

यदि चूक गये तो

अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
द्वारा लिखित
हरिवंश कथा, शलाका पुरुष भाग एक एवं भाग दो से संकलित
सुखी होने के अचूक उपाय

संकलन :

श्रीमती शान्तिदेवी जैन

सम्पादन :

श्री महावीरप्रसाद जैन

सेवा निवृत्त अति. कुलसचिव

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८

प्रथम संस्करण : ३,०००

(१ जनवरी, २००७)

मूल्य : १२ रुपये

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१. श्री महावीरप्रसादजी जैन, जयपुर	५,१०१.००
२. श्री हजारीलालजी नवीनकुमारजी, अलवर	१,१०१.००
३. श्री चिद्रूपजी शाह, अहिंसा चैरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर	१,००१.००
४. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
५. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. विमलकुमारजी जैन, दिल्ली	५०१.००
६. कु. मीना सुपुत्री ऊषा टीकमचन्दजी पंचोली, इन्दौर	३००.००
७. श्रीमती कमलाबाई रतनचन्दजी भारिल्ल, जयपुर	२५१.००
८. श्री माँगीलाल अर्जुनलालजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
९. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
१०. श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुम्बई	२५१.००
११. श्रीमती शान्तिदेवी धनकुमारजी जैन, जयपुर	२५१.००
१२. श्री सुरेशचन्दजी सुनीलकुमार जैन, बैंगलोर	२५१.००
१३. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
१४. श्रीमती पतासी देवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाडरूँ	२५१.००
१५. ब्र. कुसुमताई पाटील, कुम्भोज	२५१.००
१६. स्व. ऋषभकुमार जैन पुत्र श्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	२५१.००
१७. श्रीमती श्रीकान्ताबाई पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२०१.००
१८. श्रीमती नीलू ध.प. राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	२०१.००
१९. श्रीमती विमलादेवी सुमेरमलजी पहाड़िया, तिनसुकिया	२०१.००
२०. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१५१.००
२१. श्रीमती माणकबाई पाण्ड्या, इन्दौर	१५१.००
२२. श्रीमती गुलाबी देवी लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर	१०१.००

कुल राशि १२,०२१.००

प्रकाशकीय

‘यदि चूक गये तो’ कृति अध्यात्म रत्नाकर पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित हरिवंश कथा एवं शलाका पुरुष भाग एक और दो में आये सिद्धान्त सूत्रों, सूक्तियों एवं लोक व्यवहार में आने वाले नीति वाक्यों का भवतापहारी श्रेष्ठ संकलन है, जिसे श्रीमती शान्तिदेवी जैन ने संकलित कर लिपिबद्ध किया है।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल सिद्धहस्त और लोकप्रिय लेखक हैं जिन्होंने जैनदर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को सरलतम उपन्यास एवं निबन्ध शैली के अतिरिक्त कथा शैली में अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया है। आपके द्वारा लिखी गई। उपर्युक्त तीनों कृतियाँ समाज में समादृत तो हुई ही हैं, लोकप्रिय भी हुई है। इनका मराठी भाषा में भी अनुवाद हो रहा है।

हमारे मन में अनेक बार ऐसा विचार आया कि ‘जिन खोजा तिन पाईयाँ’ की भाँति ही उपर्युक्त कृतियों के सिद्धान्त सूत्रों को भी संक्षेप में संकलित करके प्रकाशित किया जाय; परन्तु इसकी काललब्धि अब आई है और श्रीमती शान्तिदेवी ने ही इन कृतियों का भी स्वान्तः सुखाय गहन अध्ययन करके सिद्धान्त सूत्रों का संकलन करके हमारी भावनाओं को साकाररूप प्रदान किया है। एतदर्थ उन्हें जितना भी धन्यवाद दें, थोड़ा है।

उनके इस कार्य में भी उनके पतिदेव श्री एम.पी. जैन ने भरपूर सहयोग दिया है, इसका सम्पादन कर इसे प्रकाशन योग्य तो बनाया ही, इस कृति की कीमत कम कर जन-जन तक पहुँचाने के लिए स्वयं एवं अपने परिचितों के सहयोग से आर्थिक योगदान भी उपलब्ध कराया है, एतदर्थ उनके आभारी हैं।

इसके सुन्दर प्रकाशन के लिए श्रीयुत अखिल बंसल धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है पाठकगण अन्य कृतियों की भाँति इससे भी लाभान्वित होंगे।

— ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री - पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

हार्दिक उद्गार

यद्यपि मैंने ग्राम पालम, दिल्ली में जैन पण्डितों के परिवार में जन्म लिया, परन्तु वहाँ पूजा, पाठ आदि क्रियाकाण्डों के अतिरिक्त कुछ जाना, समझा नहीं। शादी के बाद जयपुर में हमारे निवास स्थान (राजस्थान विश्वविद्यालय) के निकट स्थापित श्री टोडरमल स्मारक भवन में आने-जाने से विदित हुआ कि धर्म क्रियाकाण्ड से कुछ अधिक है। गृहस्थी की व्यस्तता के कारण दैनिक प्रवचनों के लाभ से तो वंचित रही, परन्तु स्मारक से प्रकाशित भारिल्ल बन्धुओं के द्वारा लिखित सरल साहित्य ने आध्यात्मिक रुचि जागृत की।

आदरणीय पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित कथा साहित्य का रुचिपूर्वक अध्ययन किया और यदा-कदा परिवार में उनके कथा साहित्य में समागत सूक्तियों पर चर्चा-वार्ता भी करती रही; परन्तु उनके संकलन एवं लिपिबद्ध करने का अवसर विगत कुछ वर्षों में ही प्राप्त हुआ।

आदरणीय पण्डितजी की धर्मपत्नी श्रीमती कमला भारिल्ल ने समय-समय पर कुछ लिखने की प्रेरणा दी। परिणाम स्वरूप प्रस्तुत संकलन तैयार हो पाया, जिसकी अनुमोदना स्वयं पण्डितजी ने प्रदान की। एतदर्थ मैं उन दोनों की हृदय से आभारी हूँ।

कलम के धनी श्री पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की सरल सुगम एवं मृदु अभिव्यक्ति का आस्वादन आपके द्वारा अनुवादित प्रवचन रत्नाकर के ११ भागों का तथा आपके द्वारा लिखीं छोटी-छोटी पुस्तकों के स्वाध्याय से प्राप्त किया और उनमें समागत महत्त्वपूर्ण उद्धरणों का संकलन विगत वर्षों से निरन्तर करती रही हूँ। इससे सर्वाधिक लाभ यह हुआ कि १९९५ में २५ वर्षीय युवा पुत्र संजीव के अचानक देहावसान की मानसिक पीड़ा तथा आर्त्तध्यान से रक्षा हो सकी और अपने उपयोग को आध्यात्मिक वातारण की ओर आकृष्ट कर पाई हूँ। इसमें परिवारजन का व मेरे पति और परिवार का मुझे पूरा सहयोग मिला। एतदर्थ मैं पण्डितजी एवं अपने पति और परिवार की कृतज्ञ हूँ।

दिनांक : १ दिसम्बर, २००६

- (श्रीमती) शान्तिदेवी जैन, जयपुर

सम्पादकीय

लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व हमारे युवा पुत्र संजीव जैन के अचानक देहावसान से शान्तिदेवी को गहरा सदमा लगा, जिसके निवारण के लिए उसमें धर्म की रुचि जाग्रत करने के अतिरिक्त और कोई उपाय दृष्टिगत नहीं हुआ।

स्व. संजीव, दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी था और जैनदर्शन सम्बन्धी शंकाओं के समाधान के लिए आदरणीय पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल से सम्पर्क साधता रहता था। उनके द्वारा प्रदत्त पुस्तकों का भी मनोयोग से अध्ययन करता था और हम दोनों के साथ चर्चा-वार्ता भी करता रहता था।

स्व. संजीव की ऐसी प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर हम दोनों को तभी से ही स्वाध्याय करते समय सभी धार्मिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण उद्धरणों को रेखांकित करने तथा उनको डायरियों में लिखने का व्यसन जैसा हो गया था। परिणाम स्वरूप अबतक लगभग १०० डायरियाँ संकलनों से भर गई हैं।

इसी स्वाध्यायधारा के क्रम में आदरणीय पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल की कथा-कृतियों का हमने गहनता से स्वाध्याय तो किया ही, शान्तिदेवी ने उनके नोट्स भी तैयार किए, डायरियों में उन कृतियों में आये सिद्धान्तों, सूक्तियों एवं लोकव्यवहार में उपयोगी लोकोक्तियों को चुना, मैंने इसमें उनका पूरा साथ दिया, सहयोग किया, सम्पादन भी किया।

एक दिन मुझे भाव आया कि ये डायरियाँ मैं भारिल्ल सा. श्री रतनचन्दजी को दिखाऊँ। मैंने मम्मीजी श्रीमती कमलाजी भारिल्ल को दोनों डायरियाँ देकर उनसे पढ़ने का एवं पण्डितजी साहब से पढ़वाने का निवेदन किया। उन्होंने भारी प्रसन्नता प्रगट की एवं उन्होंने स्वयं तो वे डायरियाँ पढ़ीं ही, भारिल्लजी साहब ने भी उन्हें पढ़कर पसंद किया और प्रकाशनयोग्य समझकर प्रकाशन की व्यवस्था भी कराई। इसकी मुझे बहुत खुशी है।

पण्डित टोडरमल स्मारक में होने वाले दैनिक प्रवचनों में मैं प्रारंभ से ही उपस्थित होता रहा हूँ और लगभग प्रत्येक प्रवचन के महत्वपूर्ण अंशों के नोट्स तैयार करता रहा हूँ, जिनसे मेरी भी अनेक डायरियाँ तैयार हो चुकी हैं और सपरिवार एवं परिचित लोगों के बीच में उन सूक्तियों पर चर्चा-वार्ता करता रहता हूँ। विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्त होने के पश्चात् अनेक प्रलोभनों का संवरण करके मैं अपना पूरा समय इनके स्वाध्याय चिंतन-मनन में ही करता हूँ तथा टेप प्रवचनों का अद्भुत आनन्द लेने का मेरा आठ-दस घंटों का दैनिक कार्यक्रम रहता है। स्मारक के विद्वान एवं प्रथम सत्र से वर्तमान सत्र तक के विद्यार्थियों से मेरा सौहाद्र बना रहता है। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ और जहाँ भी जाता हूँ स्मारक के वातावरण, कार्यकर्ताओं, प्राध्यापकों, संचालकों तथा छात्रों का गुणगान एवं हार्दिक प्रशंसा करने में मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।

धर्मपत्नी शान्तिदेवी की आधि-व्याधि एवं उपाधि की विकट समस्याओं से निवारण करने का एकमात्र साधन उसका अध्ययन एवं महत्वपूर्ण अंशों का शताधिक डायरियों में संकलन करते रहना ही है। हम दोनों को ही नहीं वरन् हमारा यह प्रयास अन्य पाठकों को भी आत्माराधना में सहायक बने, इस भावना से प्रथम कृति 'जिन खोजा तिन पाईया' अप्रैल २००६ में प्रकाशित होकर जन-जन तक पहुँच चुकी हैं। उसी क्रम में यह द्वितीय कृति 'यदि चूक गये तो' पाठकों की सेवा में समर्पित है। आशा है पाठक इसे भी पूर्वकृति की तरह ही अपनायेंगे इसकी विषय वस्तु पूर्वकृति से भी अधिक उपयोगी है। इसी भावना से यह प्रस्तुति समर्पित है।

— एम.पी. जैन, एम.ए., एल.एल.बी

पूर्व अतिरिक्त कुलसचिव, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अन्तर्भावना

श्रीमती शान्तिदेवी जैन धर्मपत्नी श्री महावीर प्रसाद जैन, सेवा निवृत्त अतिरिक्त कुलसचिव राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने मेरी साहित्य सरिता में गहरे गोते लगाकर जो मणिमुक्ता खोजे हैं, यह उनकी गहरी लगन का ही सुफल है।

गोते औरों ने भी लगाये होंगे; पर इसतरह गहरे गोते लगाना और साहित्य सरिता की सतह से शिक्षाप्रद सुभाषितों (सूक्तियों) रूप मणि-मुक्ताओं का चयन करने का कार्य विरले ही करते हैं, कर पाते हैं।

यह काम श्रीमती शान्तिदेवी ने स्वान्तःसुखाय किया, एतदर्थ उनकी जितनी प्रशंसा की जाय कम ही होगी। उन्हें मेरा मंगल आशीर्वाद है। वे चिरंजीवी रहकर इसीतरह आजीवन जिनेन्द्र वचन रूप ज्ञानगंगा में अवगाहन करती रहें और रत्नत्रय के रत्न खोजती रहें, अपनी परिणति को निर्मल करती रहें, क्षयोपशमज्ञान में वृद्धि करती रहें।

आपके पति श्री एम.पी. जैन ने श्रीमती शान्ति देवी जैन द्वारा तैयार की गई डायरियों को न केवल पढ़ा, उनका सम्पादन भी किया; फिर भी उन्होंने मुझसे यह अपेक्षा की कि 'मैं भी उनके इस संकलन को देखूँ और यदि पाठकों के लिए उपयोगी लगे और प्रकाशन के योग्य समझें तो इसका प्रकाशन अवश्य किया जाय। इसके प्रकाशन से मुझे अति प्रसन्नता होगी।'।

उनकी भावना को देखकर मेरी अन्तर्भावना हुई और उनके इस संकलन को भी मैंने आद्योपान्त पढ़ा और मुझे ऐसा लगा कि यह अमूल्य दुर्लभ मानव जीवन पाकर यदि हम लौकिक कार्यों में उलझे रहकर अपना आत्म कल्याण करने से चूक गये तो पता नहीं चौरासी लाख योनियों में कहाँ जा पड़ेंगे। अतः यह अवसर चूकने से हमारी जो हानि होगी, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह सोचकर ही मैंने इस कृति का नाम "यदि

चूक गये तो” रखा है। आशा है पाठक इसकी गंभीरता को समझेंगे। यह स्वर्ण अवसर चूकेंगे नहीं।

जिन्होंने तीनों कथा-कृतियाँ पढ़ीं हैं, उनकी सारसंक्षेप प्रस्तुत कृति के पढ़ने से तीनों पुस्तकों की पुनरावृत्ति हो जायेगी और जिन्हें समयाभाव के कारण उन पुस्तकों को पढ़ने का समय नहीं मिला, उन्हें उन पुस्तकों का सार इस कृति के माध्यम से मिल जायेगा।

संभवतः इसे पढ़कर सभी कृतियों को पूरा पढ़ने की जिज्ञासा भी जग जाय। तथा इन कृतियों के पढ़ने से उनका मुक्ति पथ का पथिक बनने का भाग्य जग जाय; क्योंकि इन ज्ञान और वैराग्यवर्द्धक कृतियों में भी जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि का और निर्ग्रन्थ पूज्य आचार्यों के ग्रन्थों का सार ही है।

इन सभी दृष्टिकोणों से इस कृति का प्रकाशन उपयोगी रहेगा - ऐसा मेरा विश्वास है। मुझे आशा है कि मेरे प्रिय पाठक अन्य कृतियों की भाँति इससे भी लाभान्वित होंगे।

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तावना

अध्यात्मरत्नाकर पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तुत कृति का नाम ‘यदि चूक गये तो’ देखकर पाठकों को यह जिज्ञासा जरूर जागृत होगी कि - “इस कृति में ऐसे कौन से अवसर चूकने की बात कही गई है, जिस कारण पूरी पुस्तक का नामकरण ही यह कर दिया गया है? लेखक ने इस कृति में जरूर कोई ऐसी महत्वपूर्ण बातें कहीं होंगी, जरूर किसी भारी संकट से सावधानी हेतु हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहा होगा, अतः हमें इस कृति को अवश्य आद्योपांत पढ़ना चाहिए।”

यदि पाठकों के मन में यह जिज्ञासा जागृत हो गई तो निश्चिन्त ही इस कृति का नाम, तथा संकलनकर्तृ का श्रम सार्थक हो जायेगा।

बात भी कुछ ऐसी ही है। सचमुच यह मानवपर्याय, सुकुल एवं जिनवाणी के सहज श्रवण होने का स्वर्ण अवसर चूकने योग्य नहीं है। यदि हम यह अवसर चूक गये तो हमारी जो हानि होगी उस हानि की कल्पना तो हम इस कृति के माध्यम से कर ही सकते हैं। यदि सावधान हो गये, कुछ मार्गदर्शन मिल गया तब तो भविष्य में चतुर्गति भ्रमण में प्राप्त होने वाली असहनीय वेदना से बच ही जायेंगे। अतः कम से कम एकबार इस संकलन को अवश्य पढ़ें। संभव है अनन्तकाल तक होनेवाले अनन्त दुःखों से बचने का सन्मार्ग मिल जाये, सम्यक्पुरुषार्थ जागृत हो जाये।

हम मानें या न मानें; पर यह तो अकाट्य सत्य है कि - हम सब संसारी जीव अनादि काल से आज तक भूले-भटके ही हैं, तभी तो अनन्त भूतकाल से आज तक संसार सागर में गोते खा रहे हैं, अन्यथा इन चौरासी लाख योनियों के जन्म मरण के दुःखों से मुक्त हो गये होते न!

मनुष्य पर्याय में मानव की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि - मानकषाय की मुख्यता के कारण इसने आज तक अपनी भूल स्वीकार ही नहीं की। यह अपने ‘अहं’ में ही मारा गया। यह अपने अज्ञान और अहंकार के कारण यह मानता रहा कि - ‘ब्रह्माजी के पास जो दो अक्कलें

थी, उनमें डेढ़ तो मुझे ही मिल गई।' शेष आधी अक्कल सारी दुनिया के पास है। अज्ञानी जीवों की इसी भूलभरी मान्यता के कारण गुजरात में आज भी मूर्खों को 'डेढ़ डाह्या' कहा जाता है।

अरे भाई! यह आगम सम्मत सत्य बात है कि - इस भरतक्षेत्र और इस पंचमकाल में जन्म से कोई सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) पैदा ही नहीं होता और आठ वर्ष तक आत्मज्ञानी बनने की योग्यता का विकास नहीं हो पाता। हाँ, आठ वर्ष के बाद आज तक यदि किसी के अपने तात्त्विक विचारों में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ हो तो वे अपने हृदय पर हाथ रख सोचें, देखें, याद करें कि उसने कब अपनी भूल को स्वीकार कर अपने विचारों को बदला है। अधिकांश तो ऐसे ही हैं कि जो/जहाँ/जिस जाति या कुल में जन्मा है, वह आज भी उसी मान्यता में जी रहा है, उन्हीं मान्यताओं की पुष्टि कर रहा है। बिना परीक्षा किए अपने मनमाने ढंग से माने गये कल्पित धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ माने बैठा है; बड़े-बड़े वैज्ञानिक और बुद्धिमान व्यक्ति भी धर्म के मामले में तो न जाने क्यों? अंधविश्वासी ही हैं या फिर सम्पूर्णतः नास्तिक हैं। 'धर्म को भी परीक्षा की कसौटी पर कसा जा सकता है' - यह बात तो वे सोच ही नहीं सकते। आज जरूरत है धर्म को भी सोच-समझ कर धारण करने की, अन्यथा भविष्य में धर्म के नाम चलते ढोंग के कारण सच्चा धर्म बदनाम हो जायेगा। सच्चे धर्म को मूर्खों की मान्यता मान लिया जायेगा।

पंचतंत्र में चार मूर्खों की एक कहानी आती है - वे कहते हैं - तर्क अप्रतिष्ठित है, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न हैं, मुनि अनेक हैं, उनकी मान्यताओं में परस्पर मतभेद हैं, धर्म का तत्त्व कहीं गुफाओं में ही गायब हो गया है। इसलिए जिस रास्ते से महाजन जायें, बहुत लोग जायें, वही रास्ता सही रास्ता है - ऐसा सोचकर मूर्ख लोग कुमार्ग पर चल देते हैं। अतः धर्म के विषय में विवेक की बहुत जरूरत है। भीड़ के पीछे दौड़ना कोई समझदारी नहीं है।

१. तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयोर्विभिन्नः, नेको मुनिर्यस्य वच प्रमाणं।
धर्मस्यतत्त्वं निहितं गुफायां, महाजनो येन गतः सुपन्थः॥

देखो, वह मारीचि, जो तद्भव मोक्षगामी, क्षायिक समकित्ती चक्रवर्ती भरत का पुत्र और प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का पोता था, उसने भी कोई ऐसी बड़ी भूल की थी, जिसके फल में उसे एक कोड़ा-कोड़ी सागर तक संसार के भयंकर दुःख भोगने पड़े। क्या यह विचारणीय बिन्दु नहीं है कि 'वह भूल क्या थी? जिसका उसे इतना बड़ा दण्ड मिला? तथा वैसी ही कोई भूल हम तो नहीं कर रहे हैं?' अन्यथा हमें भी वही दण्ड भोगना होगा।

यह तो अधिकांश व्यक्ति जानते ही हैं कि - पाप का फल नरक है, पुण्य का फल स्वर्ग है, धर्म का फल मोक्ष है और अधर्म का फल निगोद है। संसारी जीवों का अधिकांश समय तो निगोद में एकेन्द्रिय पर्याय में ही बीतता है। भली होनहार से कदाचित् कोई जीव त्रस-पर्याय में भी आता है तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो मात्र कर्मफल चेतना को ही भोगता है, वहाँ आत्महित कर सके - ऐसी सामर्थ्य ही नहीं होती। संज्ञी (समनस्क) पंचेन्द्रिय मानवों में भी आत्महित के हेतु भूत सब प्रकार की अनुकूल संयोग मिलना अति दुर्लभ है। उनमें भी जिसने जिस जाति/कुल/तथा गृहीत मिथ्या मान्यता वालों के घर में जन्म ले लिया, वे उसे ही सत्य मान बैठे हैं। इस तरह पर में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व की भूल के साथ काम, भोग भोगते हुए कर्मचेतना एवं कर्मफल चेतना में ही यदि त्रस पर्याय के आठों मानव भव निकल गये तो ये जीव पुनः अनन्त काल के लिए निगोद में चले जाते हैं।

सौभाग्य से हमें तत्त्व समझने लायक बुद्धि, क्षयोपशम, विशुद्धि तथा देशनालब्धि जैसे सर्व अनुकूल अवसर मिल गये हैं, अतः यह अवसर चूकने योग्य नहीं है। यदि हम ऐसा उत्तम अवसर पाकर कहीं चूक गये तो हमारी भी वही दुर्दशा होगी जो मारीचि की हुई थी।

यद्यपि मारीचि भी धार्मिक प्रवृत्ति का था; परन्तु वह वीतरागी सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का पोता होते हुए भी उनका अनुयायी नहीं, बल्कि प्रतिद्वन्द्वी था। वह स्वयं को तीर्थंकर से कम नहीं मानता था। इस प्रकार उसने गृहीत मिथ्यात्व के चक्कर में पड़कर सच्चे देव का अवर्णवाद

करके दर्शनमोह कर्म का तीव्र बंध किया था। इसकारण उसने एक कोड़ाकोड़ी सागर तक चतुर्गति के दुःख भोगे।

कविवर पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की दूसरी ढाल में संसार में जन्म-मरण के कारणों की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा है कि -

‘ऐसे मिथ्या दृग ज्ञान चरण, भव भ्रमत भरत दुःख जनम-मरन।

तातैं इनको तजिए सुजान, सुन तिनि संक्षेप कहूँ बखान ॥

आगे उन्होंने उन मिथ्या दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विशद वर्णन भी किया है, जो मूलतः पठनीय है।

पुरुवा भील और मारीचि के भव में हुई भूलों के कारण भगवान महावीर के जीव ने क्या-क्या कष्ट नहीं भोगे। साठ हजार भव तो उसने आकड़ा (अकौआ पेड़) के रखे। अनेक बार नरकों में गया। निगोद में भी गया; क्योंकि त्रस पर्याय का काल तो मात्र दो हजार सागर का ही है। जबकि वह तो मारीचि के भव से महावीर होने तक एक कोड़ाकोड़ी सागर संसार में भ्रमण करता रहा। अतः उसे निगोद में एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण के दुःख भोगना ही पड़े।

भली होनहार से वह तो लगभग २६०० वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर के रूप में आत्म साधना के अपूर्व पुरुषार्थ से मुक्त हो ही गये। हम तो अभी भी उसी संसार समुद्र में गोते खा रहे हैं।

इन सब बातों का विचार करके धर्म सम्बन्धी समस्त दुराग्रह छोड़कर इस मानव जन्म को सार्थक बनाने का सम्यक् पुरुषार्थ करना योग्य है।

दुःखद दुराग्रह मोह-मद, राग-द्वेष दुःख खान।

तातैं इनको त्यागकर करो तत्त्व रस पान ॥

करो तत्त्वरस पान, जिनागम को मत भूलो।

समझो सत्यस्वरूप सुखद, संयोगों में मत फूलो ॥

निज में करो निवास ज्ञान-चेतना है सुखद।

कहैं जिनेश्वरदेव, करम-चेतना है दुःखद ॥

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

आत्मकथ्य

कर्मफल भुगतहिं जाय टरे^१।

पार्श्वनाथ तीर्थंकर ऊपर कमठ उपसर्ग करे।

एक वर्ष तक आदितीर्थंकर बिन आहार रहे ॥

रामचन्द्र चौदह वर्षों तक वन-वन जाय फिरे।

पाया अवसर चूक गये तो करतल मलत रहे ॥

करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥१॥

‘जैसी करनी वैसी भरनी’ चतुःगति जाय भ्रमे।

आर्त्तध्यान में अटक गये तो पशुगति जाय परे ॥

पाण्डव जन को देखो उनने कैसे कष्ट सहे।

भूलचूक जाने-अनजाने करनी यथा करे ॥

करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥२॥

कृष्ण सरिखे जगत मान्य जन परहित जिये-मरे।

जनम जेल में शरण ग्वालघर बृज में जाय रहे ॥

जिनके राज-काज जीवन में दूध की नदी बहे।

अन्त समय में वही कृष्णजी नीर बूँद तरसे ॥

करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥३॥

जरत कुंवर जिसकी रक्षाहित, वन-वन जाय फिरे।

अन्त समय में वही मौत के कारण आय बने।

ऐसी दशा देखकर प्राणी, क्यों नहीं स्वहित करे।

विषयानंद में रमत रहे तो नरकनि जाय परे ॥

करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥४॥

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
०२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८५ हजार	१२.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	५१ हजार	१८.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.)	७१ हजार २००	६.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	१० हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१ (हि.म.गु.क.त.अं.)	३ लाख ६६ हजार २००	२.००
१०. क्षत्रचूडामणि परिशीलन (नवीनतम)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (नवीन संस्करण)	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (तीन संस्करण)	१३ हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन	३ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (दो संस्करण)	७ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (प्रथम संस्करण)	५ हजार	३०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (तीन संस्करण)	११ हजार	१५.००
१८. नींव का पत्थर (उपन्यास)	११ हजार	१०.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थकर स्तवन	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि	२ हजार	४.००
२२. ये तो सोचा ही नहीं (निबन्ध)	८ हजार	१५.००
२३. जिन खोजा तिन पाइयाँ	३ हजार	१०.००
२४. यदि चूक ७० गये तो	३ हजार	१२.००
सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) -		
२५ से ३६. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
३७. सम्यग्दर्शन प्रवचन	३ हजार	१५.००
३८. भक्तामर प्रवचन	३५ हजार ४००	१५.००
३९. समाधिशतक प्रवचन	३ हजार	२०.००
४०. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)	५ हजार २००	३.००
४१. गागर में सागर (प्रवचन)	२३ हजार ६००	७.००
४२. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	१ लाख ४१ हजार	३.००
४३. गुणस्थान-विवेचन	२५ हजार ५००	२५.००
४४. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)	२५ हजार २००	१०.००
४५. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)	९ हजार	११.००

हरिवंश कथा से ~

त्रेसठ शलाका महापुरुषों में आते हैं - २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र - ये ६३ शलाका पुरुष अपने-अपने युग में सम्यक् पुरुषार्थ करके असाधारण पराक्रम (साहस) द्वारा विविध प्रकार के अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। जैन और जैनतर पुराणों में इन सबका विस्तृत वर्णन है।

नौ बलभद्रों में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और नौ नारायणों में लीला पुरुषोत्तम एवं कर्मवीर श्रीकृष्ण जो वैदिक और श्रमण संस्कृतियों के पुराणों में सर्वाधिक चर्चित हैं। इन लोक मान्य चरित्रों को साहित्यकारों ने भी क्षेत्र व काल की स्थितियों के अनुकूल अपनी-अपनी नैतिक व सैद्धान्तिक विचारधारा के अनुरूप अपनाया है।

भारतीय पुराण साहित्य के अध्ययन और धार्मिक संस्कृति के अवलोकन से ज्ञात होता है कि भारतीय जन-जीवन में सदैव वीरपूजा होती रही है। चाहे वह पूजा धर्मवीर, दानवीर के रूप में हो अथवा शूरवीर या युद्धवीर के रूप में हो। जिन्होंने भी धर्म, समाज एवं राष्ट्र के हित में सम्पूर्ण शक्ति लगाकर साहस के काम किये, अपना सर्वस्व समर्पण किया, वे तत्कालीन समाज में सम्मान के पात्र तो हुये ही; आगे चलकर उनमें से बहुत से तो भगवान तथा देवी-देवताओं के रूप में आराध्य भी बन गये।

जैनधर्म में तो आराध्य के रूप में या अर्चना-पूजा करने के लिये पूज्यता का मुख्य आधार वीतरागता एवं सर्वज्ञता को माना गया है; अतः जो गृहस्थपना छोड़कर मुनिधर्म अंगीकार कर निजस्वभाव की साधना करके मोहादि कर्मों का नाश कर केवलज्ञानी अरहंत एवं सिद्ध पद को प्राप्त

हुए, वे ही देवरूप में आराध्य माने गये। शेष सबको पुराण पुरुष के रूप में आदरपूर्वक स्मरण किया गया तथा उनके आदर्श चरित्रों से मानव सबक सीखें; एतदर्थ प्रथमानुयोग के रूप में उनके आदर्श चरित्र भी लिखे गये।

-- -- --

प्रथमानुयोग अर्थात् कथा ग्रन्थों में संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की शुभाशुभ प्रवृत्ति आदि निरूपण से संसारी-अज्ञानी जीवों को पुण्य-पाप से हटाकर धर्म में लगाया जाता है। यद्यपि महन्त पुरुषों में राजाओं की सुख-दुःख की कथायें ही अधिक हैं; पर सर्वत्र प्रयोजन पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का ही प्रगट करते हैं। पाठक पहले उन महन्त पुरुषों की कथाओं की जिज्ञासा से उन्हें पढ़ते हैं और फिर पाप को बुरा जानकर एवं धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवन्त होते हैं।

-- -- --

प्रथमानुयोग (कथानुयोग) में अव्युत्पन्न-अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि जीवों) को तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि ६३ शलाका पुरुषों के चरित्रों के माध्यम से अध्यात्म और आचरण की शिक्षा दी जाती है। प्रथमानुयोग में कथानक के साथ संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल एवं महन्त पुरुषों की प्रेरणादायक प्रवृत्तियों के निरूपण से जीवों के धर्म में लगाया जाता है। जो जीव अल्पबुद्धि होते हैं, वे भी इन सबसे प्रेरणा पाकर धर्मसन्मुख होते हैं; क्योंकि अल्पबुद्धि सूक्ष्म निरूपण को तो समझ नहीं सकते, लौकिक कथा-कहानियों में तो केवल विकथायें होने से पाप का ही पोषण होता है; परन्तु प्रथमानुयोग के कथा प्रसंगों में शलाका पुरुषों के चरित्र चित्रण के माध्यम से जहाँ-तहाँ प्रसंग पाकर पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का ही प्रयोजन प्रगट करते हैं।

-- -- --

हरिवंश कथा की कथावस्तु में वर्णित तीर्थकर भगवान नेमिनाथ का जीवन महान आदर्श त्याग का जीवन है। वे हरिवंश गगन के प्रकाशमान

सूर्य हैं। भगवान नेमिनाथ के साथ नारायण श्रीकृष्ण एवं उनके भाई बलदेव के आदर्श चरित्र भी इसमें हैं। प्रसंगानुसार पाण्डवों तथा कौरवों की लोकप्रिय कथायें भी इसमें चित्रित हो गई हैं। इसमें श्रीकृष्ण के पिता वासुदेव एवं पुत्र प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार, शम्बुकुमार एवं चारुदत्त तथा पाँचों पाण्डवों और कौरवों का चरित्र अपना पृथक स्थान रखता है।

-- -- --

मृत्यु के समय श्रीकृष्ण के मुखारबिन्द से जो अन्तिम उद्गार निकलते हैं, उनसे उनकी महिमा बहुत ही ऊँची उठ जाती है। जिसे तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हुआ हो, जो स्वभाव से तो परमात्मा स्वरूप हैं ही, पर्याय में भी परमात्मा बनने की जिसने तैयारी कर ली हो, उसके परिणामों में जो समता होनी चाहिये वह श्रीकृष्ण के भावों में अन्त तक रही है।

जैनपुराणों में प्रतिपादित विश्वव्यवस्था छहद्रव्यों के रूप में अनादि-अनंत एवं स्व-संचालित है। इस विश्व को किसी ने बनाया नहीं है। यह कभी नष्ट भी नहीं होता। मात्र इन द्रव्यों की अवस्थायें बदलती हैं, इसप्रकार द्रव्य-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। द्रव्य जाति की अपेक्षा ६ हैं और संख्या की अपेक्षा देखें तो जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तान्त है, धर्म, द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं आकाशद्रव्य एक-एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात है। इनमें जीव चेतन है, शेष पाँच अचेतन हैं। पुद्गल मूर्तिक है, शेष पाँच अमूर्तिक हैं। काल एक प्रदेशी हैं, शेष पाँच बहु प्रदेशी हैं, इन पाँचों को बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय भी कहते हैं। इनके कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण के रूप में स्वतंत्र परिणामन होता है, इस परिणामन को ही पर्याय, हालत, दशा या अवस्था कहते हैं।

-- -- --

वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप की प्रतिपादक, स्याद्वादमयी जिनवाणी ही सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रेणी में आते हैं। इनके सिवाय अन्य कोई भी मुक्ति के मार्ग में पूज्य एवं आराध्य नहीं है।

-- -- --

भगवान नेमिनाथ एवं श्रीकृष्ण

जिनसेन रचित हरिवंश पुराण में हरिवंश की एक शाखा यादव कुल और उसमें उत्पन्न दो शलाका पुरुषों के चरित्र विशेष रूप से वर्णित हैं। इन शलाका पुरुषों में एक बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और दूसरे नवें नारायण लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। नेमिकुमार ने अपने विवाह के अवसर पर प्रतिबंधित पशुओं की दीनदशा देख और उनका आक्रन्दन सुनकर संसार से विरक्त होकर परिणय से पूर्व ही सन्यास धारण कर मुक्ति का मार्ग अपना लिया और दूसरे लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने कौरव-पाण्डव युद्ध में अर्जुन का सारथी बनकर अपना बल कौशल तो दिखलाया ही, कालिया दमन तथा पर्वत को सिर पर उठा लेने अर्थात् पर्वत पर बसे लोगों को संकट से निकालने जैसे अनेक लोक कल्याण के कार्य भी किये।

एक ने आध्यात्मिक उत्कर्ष का मानदण्ड स्थापित किया और दूसरे ने गोवंश वृद्धि, भौतिक समृद्धि लोक मंगल के कार्यों से और लौकिकजनों को लीला के माध्यम से प्रसन्न रखते हुए जनहित के कार्य किये। एक ने जन-जन को निवृत्ति का मार्ग दिखाया तो दूसरे ने नैतिक प्रवृत्ति का पथ प्रशस्त किया। एक ने स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त कर जगत को आत्म साधना का मार्गदर्शन किया तो दूसरा जन मंगल में प्रवृत्त रहा।

श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन तथा जन्म और मृत्यु भी कर्मयोग का पाठ पढ़ाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उनके जीवन में जन्म से ही संघर्ष की शुरूआत हो गई, जन्म जेल में हुआ और मरण जंगल में। जन्म के समय कोई मंगल गीत गाने वाला नहीं मिला और मरण समय भी कोई पानी देने वाला नहीं था।

ये दोनों घटनायें हमें देश और राष्ट्रहित में संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। जब नारायण जैसे शक्तिशाली और पुण्यवान जीव अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख की परवाह किए बिना कर्मयोगी बनकर अपना जीवन जीते हैं तो हम अपने को उनका अनुयायी माननेवाले उन जैसे कर्मयोगी क्यों न बनें?

यदि संसार के कामों में रुचि नहीं है तो उन्हीं के चचेरे भाई तीर्थंकर नेमिनाथ के आदर्शों का अनुकरण करके संसार से मुँह मोड़कर आत्मसाधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा पूर्णता प्राप्त कर मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर हों, ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर हों और जगत को भी वही मार्गदर्शन करें।

जीवों के जब तक जैसे पुण्य का उदय होता है तब तक वैसे अनुकूल संयोगों का मिलना सहज में ही होता रहता है।

यद्यपि मार-पीट करना, किसी को भी मार डालना कोई अच्छी बात नहीं है; बहादुरी का काम नहीं किन्तु वह कायर भी नहीं। गृहस्थ आक्रमण करने वाले का बहादुरी से सामना करता है; क्योंकि वह विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं होता; पर वह स्वयं पहले आगे आकर आक्रमण नहीं करता, क्योंकि आक्रान्ता तो महापापी भी है और शासन की दृष्टि में अपराधी भी है।

विनोदप्रिय नारद -

नारद के विविध प्रकार के बदलते व्यक्तित्व से हम यह शिक्षा ले सकते हैं कि यदि कोई भोगों की तीव्रलिप्सा और क्रोधादि कषायों के आवेश से तथा अपने स्वार्थीपन से अब तक बड़े-बड़े पाप करके दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहा हो, फिर भी वह समय आने पर विरागी होकर अपने स्वरूप एवं संसार का स्वरूप और वस्तु व्यवस्था का सच्चा स्वरूप जानकर, उसमें श्रद्धा करके पापों से मुक्ति प्राप्त कर सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

महासती द्रौपदी -

जब अर्जुन द्वारा गाण्डीव चक्र को बेधने पर द्रौपदी ने उन्हें हृदय से अपना वर स्वीकार करके उनके गले में वरमाला डाली तो संयोग से वह वरमाला टूट गई और हवा के झोंके से माला के पुष्प पास में खड़े हुए पाँचों पाण्डवों के शरीर पर जा पड़े। बस इस घटना को लेकर किसी विवेकहीन चपल मनुष्य ने मजाक में यह जोर-जोर से कहना शुरू कर दिया कि - “द्रौपदी ने पाँचों राजकुमारों को वरा है।” जबकि वस्तुतः द्रौपदी ने अर्जुन

को ही अपने पति के रूप में चुना था। अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर और भीम द्रौपदी को (अनुज अर्जुन की पत्नी को) अपनी बहू (बेटी) जैसी पवित्र दृष्टि से देखते थे तथा अर्जुन के छोटे भ्राता नकुल और सहदेव द्रौपदी भाभी को माता के समान पूज्य मानते थे। द्रौपदी भी जेठ युधिष्ठिर एवं भीम को अपने श्वसुर पाण्डु के समान मानकर पिता तुल्य सम्मान देती थीं तथा देवर नकुल और सहदेव को पुत्रवत् मानती थी। वस्तुतः अर्जुन की पत्नी द्रौपदी पतिपरायण महासती नारी थी।

राजीमती राजुल -

अरे, रागी क्या जाने विरागियों की बातें। वस्तुतः राजीमती (राजुल) दया की नहीं, श्रद्धा की पात्र बन गई, श्रद्धेय बन गई, पुजारिन से पूज्य बन गई। राजीमती बारात वापिस जाने के कारण आर्यिका नहीं बनी थी, बल्कि उसका स्वयं का भी राग टूट गया था, आर्यिका के व्रत लेना राजुल की मजबूरी नहीं, अहो भाग्य था। अहो भाग्य!!

राजा सुमुख और वनमाला -

विषयासक्त चित्तवाले व्यक्ति के ऐसे कौन से गुण हैं, जो नष्ट नहीं हो जाते। अरे! न उसमें विद्वत्ता रहती है; न मानवता; न ही अभिजात्यपना (बड़प्पन) तथा न सत्य बोलना ही उसके जीवन में संभव है। कामासक्त व्यक्ति के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

भवितव्यतानुसार ही जीवों की बुद्धि, विचार एवं व्यवसाय होता है और निमित्त आदि बाह्य कारण भी वैसे ही मिल जाते हैं।

जिनकी भली होनहार होती है; उनके परिणाम परिस्थितियाँ और भावनायें बदलते देर नहीं लगती। वीरक वैश्य तो विरागी होकर दिगम्बर मुनि दीक्षा लेकर आत्मसाधना में मग्न हो ही गये। वरधर्म नामक मुनिराज का राजा सुमुख के यहाँ आहार के निमित्त से शुभागमन होने से उनके दर्शन और उपदेश का निमित्त पाकर वनमाला और सुमुख का जीवन भी बदल गया।

--

--

--

आचार्यदेव कहते हैं कि - हे भव्य! यह मानव जन्म पाना अति दुर्लभ है जो हमें किसी पुण्य विशेष से सहज प्राप्त हो गया है। यदि इसे हमने विषयान्ध होकर यों ही विषयों में खो दिया तो समुद्र में फेंके चिन्तामणिरत्न जैसी मूर्खता ही होगी। उसे कोई भी व्यक्ति बुद्धिमान नहीं कहेगा? थोड़े से पुण्य के उदय में उलझकर यह अज्ञानी प्राणी अपने दुर्लभ मनुष्य भव रूप चिन्तामणि रत्न को संसार के भयंकर दुःख समुद्र में डुबोने का कार्य कर रहा है। मोहवश अज्ञानी को इतना भी विवेक नहीं रहता कि - यह सांसारिकसुख बाधा सहित हैं, क्षणिक हैं, इसके आदि मध्य एवं अन्त में तीनों काल दुःख ही दुःख हैं; ये पाप के बीज हैं। इस विषयानन्दी-रौद्रध्यान का फल साक्षात् नरक है; अतः उस समय रहते तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त कर इस मनुष्य जन्म में भव के अभाव का बीज बो देने में ही बुद्धिमानी है। एतदर्थ नियमित स्वाध्याय और यथायोग्य व्रत नियम-संयम के साथ ही जीवन जीने की कला का अभ्यास करना चाहिए।

--

--

--

परमात्मा दो प्रकार के होते हैं। १. कारणपरमात्मा, २. कार्यपरमात्मा। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्तवीर्य को प्राप्त अरहंत एवं सिद्ध भगवान् कार्य परमात्मा हैं, उन्होंने अपने स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभावरूप स्वचतुष्टय के सहारे घातिया-अघातिया कर्मों का अभाव करके कार्य परमात्मा का पद प्राप्त किया है।

हम तुम और समस्त भव्य जीव स्वभाव से कारण परमात्मा हैं। जो जीव कार्य परमात्मा के द्वारा प्राप्त जिनवाणी के रहस्य को जानकर वस्तुस्वातंत्र्य आदि सिद्धान्तों को समझकर अपने अनादिकालीन अज्ञान एवं मोहान्धकार का नाश करके आत्मानुभव कर लेते हैं, पर में हुई एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बुद्धि को त्याग देते हैं, इष्टानिष्ट के संयोग-वियोग की मिथ्याकल्पनाओं से उत्पन्न आर्तध्यान एवं विषयों में आनन्द मानने रूप रौद्रध्यान के दुष्परिणामों को जान लेते हैं; वे जीव अल्पकाल में मिथ्या

मान्यता और इष्टानिष्ट कल्पनाओं को त्यागकर सागर के भयंकर दुःखों से मुक्त हो सकते हैं।

-- -- --

दूसरों को दुःख पहुँचाकर जगत में कोई सुखी नहीं रह सकता। अपराधी को अपने अपराध का दण्ड तो भुगतना ही चाहिए; अन्यथा लोक में अराजकता भी तो फैल जायेगी।

-- -- --

चौबीस तीर्थकरों ने कुछ भी नया नहीं कहा, जो अनादि-निधन छह द्रव्यों का स्वतंत्र परिणमन, सात तत्त्वों का स्वरूप, स्व-संचालित विश्वव्यवस्था आदि का उपदेश चला आ रहा है। वही सब तीर्थकरों की वाणी में आता है। जो जीव उनकी दिव्यध्वनि के सार को समझकर तदनुसार श्रद्धान-ज्ञान और आचरण करते हैं, वे अल्पकाल में ही सांसारिक दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं।

-- -- --

संसार में समस्त प्राणी दुःखी दिखाई देते हैं और वे दुःख से बचने का उपाय भी करते हैं। परन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वों की सही जानकारी एवं श्रद्धा के बिना दुःख दूर होता नहीं। दुःख दूर करना और सुखी होना ही हम सब जीवों का सच्चा प्रयोजन है और ऐसे तत्त्व जिनकी सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान बिना हमारा दुःख दूर न हो सके और हम सुखी न हो सकें, उन्हें ही प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं। तत्त्व माने वस्तु का सच्चा स्वरूप। जो वस्तु जैसी है, उसका जो भाव, वही तत्त्व है। तत्त्व सात होते हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनका यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्मा को जीवतत्त्व कहते हैं। ज्ञानदर्शनस्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न, किन्तु आत्मा से संबंधित समस्त द्रव्य (पदार्थ) अजीव तत्त्व कहलाते हैं। अन्य पुद्गलादि समस्त पदार्थ अजीवद्रव्य हैं।

-- -- --

सामान्य रूप से तो जीव-अजीव दो ही तत्त्व हैं। आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष हैं। किन्तु यहाँ तो मोक्ष का प्रयोजन है। अतः आस्रवादि पाँच पर्यायरूप विशेष तत्त्वों को भी जानना जरूरी है। उक्त सातों के यथार्थ श्रद्धान बिना मोक्षमार्ग नहीं बन सकता है; क्योंकि जीव और अजीव को जाने बिना अपने पराये का भेद-विज्ञान कैसे हो? मोक्ष को पहिचाने बिना और हित रूप माने बिना उसका उपाय कैसे करें? मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा है, अतः उनका जानना भी आवश्यक है तथा आस्रव का अभाव संवर है और बंध का एकदेश अभाव निर्जरा है, अतः इनको जाने बिना संवर-निर्जरा रूप कैसे प्रवर्ते? अतः इनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है -

जिन मोह-राग-द्वेषभावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन मोह-राग-द्वेषभावों को भावास्रव कहते हैं और उसके निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयं आना द्रव्यास्रव है।

आत्मा का अज्ञान, मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभाव भावों में रुक जाना सो भावबंध है और उसके निमित्त से कार्माण पुद्गलों का स्वयं कर्मरूप होकर बंधना सो द्रव्यबंध है।

पुण्य-पाप के विकारी भावों को आत्मा के शुद्ध (वीतरागी) भावों से रोकना सो भावसंवर है, और तदनुसार नये कर्मों का आना स्वयं रुक जाना द्रव्यसंवर है।

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूप में आंशिक स्थिर होना या आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्मों (द्रव्यकर्मों) का अंशतः खिर जाना सो द्रव्य निर्जरा है।

अशुद्धदशा का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रकट होना भाव मोक्ष है और द्रव्यकर्मों का सर्वथा नाश (अभाव) होना द्रव्यमोक्ष है।

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र ही चार गति में भटकने का कारण है। अतः उन्हें जानकर उनको छोड़ना आवश्यक है।

-- -- --

आत्मा का हित निराकुल सुख है, वह आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त किया जा सकता है। पर यह जीव अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूलकर मोह-राग-द्वेष रूप विकारी भावों को करता है, अतः दुःखी है।

जब यह आत्मा अपने को भूलकर स्वयं मोह-राग-द्वेषभावरूप विकारी परिणामन करता है, तब कर्म का उदय उसमें निमित्त कहा जाता है। कर्म आत्मा को जबरदस्ती विकार नहीं कराते हैं। अतः मात्र कर्मों को दुःख का कारण मानना भूल है।

जब पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणामे, तब कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके उसे निमित्त कारण कहते हैं। अतः जब आत्मा स्वयं अपनी भूल से विकारादि रूप (दुःखादिरूप) परिणामे, तब उसमें कर्मोदय को निमित्त कहा जाता है।

अपने द्वारा किए पाप-पुण्य कर्मों के उदय में यह जीव मोह-राग-द्वेषरूपी विकारी भाव करता है, उन्हें भावकर्म कहते हैं और उन मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा (पौद्गलिक कर्मरज) कर्मरूप परिणामित होकर आत्मा से सम्बद्ध हो जाती हैं, उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। इन अपने किए कर्मों का फल जीव को भोगना ही पड़ता है।

-- -- --

ज्ञानस्वभावी जीवतत्त्व को आत्मा कहते हैं। वह अवस्था की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है - १. बहिरात्मा, २. अंतरात्मा, ३. परमात्मा।

शरीर को आत्मा तथा अन्य पदार्थों और रागादि में अपनापन माननेवाला या शरीर और आत्मा को एक माननेवाला जीव ही बहिरात्मा है, अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) है।

आत्मा को छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थों में (अपनापन) आत्मपन

मानने के कारण ही यह बहिरात्मा कहलाता है। अनादिकाल से यह आत्मा शरीर की उत्पत्ति में ही अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में ही अपना नाश तथा शरीर से संबंध रखने वालों को अपना मानता आ रहा है। जब तक यह भूल न निकले तब तक जीव बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि रहता है। मिथ्यादृष्टि के कारण जीव अपने राग-द्वेष व मोह से मुक्त नहीं हो पाता।

-- -- --

जो व्यक्ति भेदविज्ञान के बल से निज आत्मा को देहादिक से भिन्न, ज्ञान और आनन्द स्वभावी जानता है, मानता है और अनुभव करता है; वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा ही अंतरात्मा है। आत्मा में ही अपनापन मानने के कारण तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी परपदार्थों में अपनापन की मान्यता छोड़ देने के कारण वह अंतरात्मा कहलाता है।

-- -- --

अंतरात्मा गृहस्थावस्था त्यागकर शुद्धोपयोगरूप मुनि-अवस्था धारण कर निजस्वभाव साधन द्वारा परमात्मपद प्राप्त करता है अर्थात् परमात्मा बन जाता है और इसके अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य प्रकट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यही अंतरात्मा अपने पुरुषार्थ द्वारा आगे बढ़कर परमात्मा बनता है।

-- -- --

प्रत्येक आत्मा सुखी होना चाहता है। परमात्मा पूर्ण निराकुल होने से अनंत सुखी है। इस अपेक्षा भी परमात्मा दो प्रकार के होते हैं - १. सकल परमात्मा, २. निकल परमात्मा।

चार घातिया कर्मों का अभाव करने वाले श्री अरहंत भगवान शरीर सहित होने से सकल परमात्मा कहलाते हैं और कर्मों से रहित सिद्ध भगवान शरीर रहित होने से निकल परमात्मा कहलाते हैं।

-- -- --

शौर्य और प्रभाव के द्वारा सागर पर्यन्त पृथ्वी को जीतने वाले और विशाल पृथ्वी पर शासन करने वाले बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं की सत्ता भी काल के प्रचण्ड प्रहारों से ध्वस्त हुई दिखाई देती हैं। प्रिय स्त्री तथा सुख-दुःख के साथी मित्र और पुत्र भी दुर्भाग्य रूप प्रलय के प्रकोप से अशुभकर्मों के उदय आने पर सूखे पत्तों की भाँति नष्ट होते देखे जाते हैं। इस संसार में मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवों के भी प्रिय देवांगनाओं का वियोग को प्राप्त होते देखा जाता है।

-- -- --

अज्ञानियों को तो यह भी भान नहीं कि क्षण-भंगुर मेघों की भाँति ही यह वज्र जैसा सुदृढ़ शरीर भी वृद्धावस्थारूपी आँधी-तूफानों के प्रहारों से नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अपने शौर्य और प्रभाव द्वारा समस्त पृथ्वी तक को वश में करने वाले बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी कालचक्र के प्रचण्ड आघातों से चूर-चूर हो जाते हैं। प्राणों के समान प्रिय स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र भी दुर्भाग्यरूप प्रबल वायु के वेग से सूखे पत्तों की भाँति यत्र-तत्र बिखर जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

-- -- --

जिसप्रकार ईंधन से अग्नि कभी तृप्त नहीं होती; हजारों नदियों के पानी से भी समुद्र कभी संतुष्ट नहीं होता; उसीप्रकार संसार के संचित काम-भोग की सामग्री से संसारी जीवों की भोगाभिलाषा कभी तृप्त नहीं होती।

-- -- --

इसके विपरीत जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि एवं इन्द्रिय-विजयी मानव हैं, वे उन विषयों से विरक्त हो जाते हैं और तत्त्वज्ञान की जलधारा से उस विषयाग्नि को बुझा देते हैं और यह सोचते हैं कि - “मैं इन सारहीन विषय सुखों को छोड़कर क्यों न शीघ्र ही हितरूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो जाऊँ। अब मुझे इन्हें त्यागने में एकक्षण भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।”

-- -- --

जब व्यक्ति कामान्ध हो जाता है तो उसका सारा विवेक समाप्त हो जाता है, उसे न्याय-अन्याय तो दिखाई देता ही नहीं, इस जन्म में लोकनिन्दा का भय भी नहीं रहता और परलोक में पाप के फल स्वरूप कुगति के दुःखों को भोगना पड़ेगा, इसकी परवाह भी वह नहीं करता।

-- -- --

सज्जन लोग भले कामों का ही साथ देते हैं, बुरे कामों का साथ कभी नहीं दे सकते। जब मनुष्य पतित हो जाता है, पाप प्रवृत्ति में पड़ जाता है तो उसका पुण्य क्षीण होने लगता है और सब अनुकूल संयोग स्वतः साथ छोड़ देते हैं, भले ही वे सगे सम्बन्धी एवं पत्नी-पुत्र ही क्यों न हो।

-- -- --

सचमुच जिसकी होनहार खोटी हो, उसे सद्बुद्धि नहीं आ सकती। जिनकी होनहार अच्छी हो उन्हें ही सद्बुद्धि आती है और सदनिमित्त मिलते हैं।

-- -- --

जो जीवों की हिंसा की परवाह नहीं करता और अध्यात्म की आड़ लेकर ऐसी स्वछंदता की बातें करता है कि “आत्मा तो सूक्ष्म है, वह आग में जलता नहीं, पानी में गलता नहीं, अस्त्रों-शस्त्रों से कटता नहीं। उसे कोई कैसे मार या बचा सकता है?” यह उनका कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह कुतर्क है। ऐसी अध्यात्म की बात कहकर वह मानव हिंसा और क्रूरता के महापाप से नहीं बच सकता। उक्त कथन का हिंसा-अहिंसा के आचरण से कोई संबंध नहीं है।

-- -- --

यह निर्विवाद सिद्ध है कि संसारी जीव शरीर प्रमाण है और मंत्र-तंत्र व अस्त्र-शस्त्र आदि किसी भी साधन से शरीर का घात होने पर जीव को नियम से दुःख होता ही है। अतः ऐसी क्रिया करने वाला व्यक्ति क्रूर होने से हिंसक है।

--

--

--

कोई भी संसारी संज्ञी प्राणी ध्यान के बिना तो रहता नहीं है और मिथ्यात्व की भूमिका में धर्मध्यान किसी को होता नहीं है, इसकारण उनको या तो आर्तध्यान होता रहता है या रौद्रध्यान। आर्तध्यान दुःखरूप ही होता है। इसके मुख्यतः चार भेद हैं - १. इष्ट वियोगज, २. अनिष्ट संयोगज, ३. पीड़ा चिन्तन और ४. निदान।

जगत में जो वस्तु या व्यक्ति सुखदायक प्रतीत होता है, वह इष्ट लगता है, प्रिय लगता है, भला लगता है और जो दुःखदायक प्रतीत होता है, वह अनिष्ट लगता है, बुरा लगता है, अप्रिय लगता है। जो इष्ट लगता है उसके वियोग में दुःखी होना - यह इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। जो अनिष्ट लगता है, उसके संयोग में दुःखी होना - यह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है।

पीड़ा दो तरह से होती है - एक मानसिक, दूसरी शारीरिक। मोह और असाता कर्मों के उदयानुसार दोनों तरह की पीड़ाएँ होती हैं, उसमें दुःखी रहना पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान है तथा थोड़ा-बहुत बाह्य धर्माचरण करके उसके फल में लौकिक विषयों की कामना होना निदान आर्तध्यान है - अज्ञानी जीव चौबीसों घंटे इसी में उलझा रहता है और इसके परिणाम स्वरूप उसे तिर्यचगति की प्राप्ति होती है।

यदि हमें पशु पर्याय पसंद न हो, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में जन्म-मरण करना और अनन्त दुःख भोगना पसंद न हो तो तत्त्वज्ञान के अभ्यास से परपदार्थों में इष्टानिष्ट की मिथ्या कल्पना का त्याग आवश्यक है; अन्यथा हम इस आर्तध्यान से नहीं बच सकेंगे।

रौद्रध्यान मुख्यतः मिथ्यात्व की भूमिका में होता है - वह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है। १. हिंसानन्दी, २. मृषानन्दी, ३. चौर्यानन्दी, ४. परिग्रहानन्दी। यह रौद्रध्यान आनन्दरूप होता है। इसके फल में जीव नरक में जाता है। जैसे कि राजा वसु ने मोहवश 'अज' शब्द का मिथ्या

अर्थ प्रचारित करके हिंसा की परम्परा को तो प्रश्रय दिया ही, झूठ भी बोला और पर्वत का पक्ष लेकर हिंसा एवं झूठ को बढ़ावा देकर मन ही मन आनन्दित हुआ। परिणामस्वरूप सातवें नरक गया।

--

--

--

यह तो सभी जानते हैं कि द्रव्य हिंसा करना किसी के वश की बात नहीं है; क्योंकि कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं समयसार के बन्ध अधिकार में लिखते हैं - "आयु क्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही। हम आयु हर सकते नहीं, तो मरण हमने कैसे किया।" अतः यदि प्रमाद एवं कषायवश हमने मारने या बचाने का अशुभ या शुभभाव किया तो हमें तो उन्हीं भावों का फल प्राप्त होता है। अज्ञानी जीव दिन-रात राग-द्वेष और मोहवश मारने/बचाने के अशुभ-शुभभावों से पाप-पुण्य बाँधता ही रहता है। फलस्वरूप कभी नरक तो कभी स्वर्ग के दुःख-सुख भोगता रहता है। यदि संसार में जन्म-मरण के दुःख नहीं भोगना हो तो इस हिंसानन्दी-रौद्रध्यान से बचें। रौद्रध्यान तो अशुभ ही होता है, जिसका फल नरक है।

--

--

--

जीवों पर दया करना व्यवहार से अहिंसाधर्म है। निरन्तर हिंसा के त्यागरूप ऐसा धर्म का पालन करना और अपने प्राण जाने पर भी जीववध से दूर रहना हिंसा का त्याग है, यही व्यवहार से अहिंसा धर्म है। आदरपूर्वक आचरण किया हुआ यह धर्म मोह को भेदकर साक्षात् स्वर्ग और परम्परा मोक्ष के उत्तम सुख में पहुँचा देता है।

तीनों लोकों में त्रिवर्ग (अर्थ, काम एवं मोक्ष) की प्राप्ति धर्म से ही होती है। इसलिए त्रिवर्ग के इच्छुक प्राणियों को धर्म की साधना/आराधना एवं उपलब्धि करना चाहिए। धर्म ही सर्वोत्कृष्ट मंगल स्वरूप है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित अहिंसा, संयम, तप-त्याग आदि वीतराग धर्म के आधार हैं। वह वीतराग धर्म ही जीवों को उत्तम शरण भूत है; क्योंकि वह वस्तु का स्वभाव रूप धर्म ही जीवों को उत्तम सुख की प्राप्ति कराता है। इस धर्म से ही वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

-- -- --

यह रत्नत्रय धर्म वस्तुस्वभाव की समझपूर्वक ही होता है। जब तक छह द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन का यथार्थ ज्ञान एवं सात तत्त्वों या नौ पदार्थों की यथार्थ जानकारी और सही श्रद्धा नहीं होती तब तक वीतराग चारित्ररूप यथार्थ धर्म प्रगट नहीं होता। संयम एवं तप की सार्थकता भी सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है।

-- -- --

साधना और आराधना की दृष्टि से धर्म-साधना को दो वर्गों में बाँटा गया है - एक मुनिधर्म तथा दूसरा गृहस्थ धर्म। गृहस्थ धर्म साक्षात् तो स्वर्गादिक अभ्युदय का कारण है और परम्परा से मुक्ति का कारण है तथा मुनिधर्म मुक्ति का साक्षात् कारण है।

-- -- --

वस्तुतः मुक्ति तो मुनिधर्म की साधना से ही होती है। मुनि हुए बिना तो तीनकाल में कभी भी मोक्ष की प्राप्ति संभव ही नहीं है। अरहन्तपद प्राप्त करने की प्रक्रिया ही यह है कि “जो गृहस्थपना छोड़कर मुनिधर्म अंगीकार कर निज स्वभाव साधन द्वारा चार घातिया कर्मों का अभाव होने पर अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए वे अरहन्त हैं।” अरहन्त की इस परिभाषा में मुनिधर्म और उसमें भी निज स्वभाव की साधना ही मुख्य है। गृहस्थधर्म तो मात्र एक तात्कालिक समझौता है। जबतक पूर्णरूप से पापों को छोड़ने और निजस्वरूप में स्थिर होने की सामर्थ्य प्रगट नहीं होती तब तक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों का एकदेश पालन करते हुए मुनिधर्म को धारण करने की सामर्थ्य (योग्यता) प्रगट करने का प्रयत्न ही गृहस्थ धर्म है। जैसे ही कषाय के तीन चौकड़ीजन्य सम्पूर्ण पापप्रवृत्ति छूट जाती हैं, त्यों ही जीवन में मुनिधर्म आ जाता है। फिर मुनि होने से कोई नहीं रोक सकता। वैसे तो गृहस्थ धर्म का प्रारंभ - सम्यग्दर्शनरूप मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी से ही होता है; किन्तु उसके भी पहले सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त

करने के लिए अष्ट मूलगुणों का पालन, सात व्यसनों का त्याग और सच्चे वीतरागीदेव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा स्याद्वादमयी वाणी (जिनवाणी) रूप सच्चे-शास्त्र और पठन-पाठन अति आवश्यक है। इन साधनों के बिना निजस्वभाव में स्थिररूप मुनिधर्म की साधना तथा रत्नत्रय धर्म का प्राप्त होना कठिन ही नहीं असंभव है।

-- -- --

प्रारंभ में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु सच्चेदेव-गुरु-शास्त्र के माध्यम से छह द्रव्यों के स्वतंत्रपने का, सात-तत्त्व की हेयोपादेयता का, नौ पदार्थ का एवं स्व-परभेद विज्ञान का ज्ञान तथा परपदार्थों में अनादिकालीन हो रहे एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व की मिथ्या-मान्यता का त्याग भी अनिवार्य है।

यह सब तो सम्यग्दर्शन की पूर्व भूमिका में ही होता है - ऐसी पात्रता बिना आत्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता; अतः मनुष्य जन्म की सफलता के लिए हमें ऐसी पात्रता तो प्राप्त करना ही है। देखो, जो प्राणी मोह के वश होकर संसारचक्र में फँसे रहते हैं। कर्मकलंक से कलंकित ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्होंने आज तक त्रस पर्याय प्राप्त ही नहीं की। वे प्राणी चौरासी लाख कुयोनियों में तथा अनेक कुल कोटियों में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। कदाचित् हम भी यह अवसर चूक गये तो चौरासी लाख योनियों में न जाने कहाँ जा पड़ेंगे? फिर अनन्तकाल तक यह स्वर्ण अवसर नहीं मिलेगा।

-- -- --

संसार के सभी प्राणी कर्मोदय के वशीभूत हो स्थावर तथा त्रस पर्यायों में असंज्ञी (मन रहित) होकर जन्म-मरण के असह्य दुःख सागरों पर्यंत भोगते हैं। यदि इन दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो एक वीतराग धर्म की आराधना करो।

-- -- --

जैनपुराणों में प्रतिपादित विश्वव्यवस्था छहद्रव्यों के रूप में अनादि-अनंत एवं स्व-संचालित है। इस विश्व को किसी ने बनाया नहीं है। यह कभी नष्ट भी नहीं होता। मात्र इन द्रव्यों की अवस्थायें बदलती हैं, इसप्रकार द्रव्य-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। द्रव्य जाति की अपेक्षा ६ हैं और संख्या की अपेक्षा देखें तो जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तानंत है, धर्म, द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं आकाशद्रव्य एक-एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात है। इनमें जीव चेतन है, शेष पाँच अचेतन हैं। पुद्गल मूर्तिक है, शेष पाँच अमूर्तिक हैं। काल एक प्रदेशी है, शेष पाँच बहु प्रदेशी हैं, इन पाँचों को बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय भी कहते हैं। इनके कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण के रूप में स्वतंत्र परिणमन होता है, इस परिणमन को ही पर्याय, हालत, दशा या अवस्था कहते हैं।

-- -- --

यह असार संसार अनेक दुःखों से भरा है। इन सबमें मात्र मनुष्यपर्याय ही मोक्ष का साधक होने से सारभूत है; परन्तु यह अत्यन्त दुर्लभ है, जो हमें इस समय हमारे सद्भाग्य से सहज में उपलब्ध हो गई है; अतः बुद्धिमान व्यक्तियों को संसार की इस दुःखद स्थिति को जानकर इससे विरक्त होकर मुक्ति की साधना कर इस मानव जन्म को सार्थक कर लेना चाहिए।

-- -- --

जिस लौकिक आजीविका के लिए भौतिक सुविधा के लिए हमें एक क्षण बर्बाद करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि वह सब तो पूर्वोपार्जित पुण्यानुसार हाथी को मन और चींटी को कण मिलता ही है। उसमें तो हम दिन-रात लगे रहते हैं, २४ घंटे भी कम पड़ते हैं और जिस मुक्ति की साधना के लिए अपूर्व पुरुषार्थ करने और समय देने की जरूरत है, उसके लिए हमें समय देने की जरूरत है, उसके लिए हम समय नहीं दे पा रहे हैं; अतः अपनी दिशा को बदलना चाहिए। दिशा बदलने से ही दशा बदलेगी।

-- -- --

पुण्यवान और परोपकारी पुरुष जहाँ भी जाते हैं, वहीं उन्हें समस्त प्रकार से अनुकूलता प्राप्त होती है। दो हाथ यदि उन्हें धक्का देते हैं, गिराते हैं तो हजार हाथ उन्हें झेलने को तैयार मिलते हैं। अनुकूलता में हर्ष नहीं और प्रतिकूलता में विषाद नहीं, हमें सभी में साम्यभाव रखना चाहिए।

-- -- --

यद्यपि ज्ञानी संत लौकिक ऋद्धि-सिद्धि के लिए तप नहीं करते, फिर भी तप के फल में ऋद्धियाँ सिद्धियाँ भी मिलती ही हैं। अर्थात् न चाहते हुए उन्हें ऋद्धियाँ प्रगट होती हैं, परन्तु वे उनका उपयोग लौकिक कार्यों के लिए नहीं करते।

जलती हुई अग्नि कितनी ही उग्र-ज्वलन्त क्यों न हो, जल के द्वारा तो शान्त हो ही जाती है न! यदि जल से अग्नि भभकने लगे तो अग्नि को बुझाने का अन्य क्या उपाय बाकी बचेगा? इसी तरह विषयाग्नि कितनी भी उग्र हो, परन्तु वह ज्ञान जल से बुझती ही है।

-- -- --

सात मुनियों की रक्षा में अपनी विक्रिया ऋद्धि का उपयोग करके अपनी की गई घोर तपस्या को तिलांजलि मुनि देनेवाले विष्णुकुमार के धर्मवात्सल्य से, अंकपनाचार्य की निश्चलता तथा श्रुतसागर के प्रायश्चित के आदर्श से जो व्यक्ति अपने परिणामों को निर्मल करते हैं, वे सातिशय पुण्य के साथ परम्परा मुक्ति को भी प्राप्त करते हैं।

-- -- --

जो व्यक्ति पापरूपी कुँ में और दुःखद संसार सागर में डूबे हुए मनुष्यों के लिए धर्मरूपी हाथ का सहारा देता है, उसके समान संसार में परोपकारी और कौन हो सकता है? सचमुच यह ही परम उपकार है। ऐसा ही उपकार तीर्थंकर और गणधरदेव भी करते हैं।

-- -- --

लोक में एक अक्षर, आधे पद अथवा एक पद का ज्ञानदान देनेवाले गुरु को जो भूल जाता है, जब वह भी कृतघ्न है, पापी है तो धर्मोपदेश के

दाता को भूल जाने वाले कृतघ्नीयों का तो कहना ही क्या है? नीति कहती है कि - “नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति - किए हुए उपकार को सज्जन कभी भूलते नहीं है।” उपकारी व्यक्ति की कृत-कृत्यता प्रत्युपकार से ही होती है।

-- -- --

अपना उपकार करने वाले व्यक्ति का अवसर आने पर प्रत्युपकार किया जावे। कदाचित् उपकार करने की सामर्थ्य न हो तो उपकारी के प्रति विनम्र व्यवहार के साथ कृतज्ञता ज्ञापन तो करना ही चाहिए।

-- -- --

धर्मात्मा मनुष्य भले ही पूर्वक्षणिक पापोदय के कारण कुछ काल के लिए निर्धन हो गया हो, समुद्र में गिर गया हो, कुएँ में भी पड़ गया हो, किसी भी कठिनाई में पड़ गया हो - तो भी पापक्षीण होने पर धर्म के प्रभाव से पुनः सर्वप्रकार से सम्पूर्ण सुःख के साधनों से सम्पन्न हो जाता है। अतः जिनेन्द्र द्वारा निरूपित धर्म चिन्तामणि सतत् संचय करो।

-- -- --

संसारीजीवों के सब दिन एक जैसे नहीं बीतते-पुण्योदय कब पापोदय में पलट जाये, कोई नहीं कह सकता। किसी कवि ने कहा भी है - “सबै दिन जात न एक समान” अतः मानव को अनुकूलता के समय आत्महित में प्रवृत्त रहना योग्य है। धर्म आराधना, आत्मसाधना करने योग्य है।

-- -- --

जो व्यक्ति चार अनुयोगों के स्वरूप को समझकर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समताभाव रखता है। उसे कषाय की मन्दता से विशेष पुण्यार्जन होता है, फलस्वरूप लौकिक सुख सामग्री स्वतः ही उसके चरणों में आ पड़ती है। अतः जब तक आत्म सन्मुखता का पूर्ण पुरुषार्थ संभव न हो तब तक तत्त्व के आश्रय और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से अपने परिणामों को संक्लेश रहित निर्मल रखना चाहिये।

-- -- --

जिनधर्म उपासक मोक्षप्राप्त तो करता ही है; किन्तु जब तक अपने सम्यक् पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण मुक्ति का लाभ नहीं ले पाता, तब तक संसार में भी वीतराग धर्म की आराधना से प्राप्त पुण्य के प्रताप से लौकिक अनुकूलतायें एवं मनोवांछित कामों में सफलता प्राप्त करता है।

-- -- --

पुण्यात्मा कहीं भी जाए, यदि उसे एक मारता है तो दूसरा बचानेवाला भी मिल ही जाता है, अतः अपने को सदैव पुण्य कार्य तो करते ही रहना चाहिए और पापों से सदैव दूर रहना चाहिए। एतदर्थ आत्मा-परमात्मा का ध्यान ही एकमात्र वह उपाय है, जिससे जीव लोक/परलोक में सुखी रह सकता है।

-- -- --

ये बन्धु-बान्धवों के सम्बन्ध और ये भोग सम्पदायें दुःखदायक ही हैं तथा यह सुन्दर कान्तियुक्त शरीर का मोह भी दुःखद ही है, फिर भी मूर्खप्राणी इसके राग-रंग में उलझे हुए हैं, इन्हें सुखद मान बैठे हैं।

जीव अकेला ही पुण्य-पाप करता है, अकेला ही सुख-दुःख भोगता है। अकेला ही पैदा होता है और मरता है, फिर भी आत्मीयजनों के राग में अटका रहता है, जो आत्महित में लग गये हैं, जो भोगों को त्यागकर मोक्षमार्ग में अग्रसर हो गये हैं, वे ही धीर-वीर मनुष्य सुखी हैं।

-- -- --

जिस व्यक्ति ने सत्कर्म करके पुण्यार्जन किया है, उसके ही लौकिक-पारलौकिक मनोरथपूर्ण होते हैं। अतः जिनशासन के अनुसार सभी को सदाचारी जीवन जीते हुए वीतराग धर्म की आराधना करना ही चाहिए।

-- -- --

यद्यपि देवगति में संयम धारण नहीं कर सकते; फिर भी वस्तुस्वरूप का अवलम्बन लेकर पुण्य-पाप की विचित्रता जानकर और रागद्वेष के कारण

उत्पन्न हुए वैर-विरोध का त्यागकर संक्लेश भावों से तो बच ही सकते हैं। यदि ऐसा नहीं किया और भोगों में ही उलझ गये तो अति संक्लेश भावों से मरकर एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय के भंयकर दुःख-सागर में डूब जाने से हम बच नहीं पायेंगे। अतः यह अवसर चूकने योग्य नहीं है।

-- -- --

सब राग-द्वेष के मूलकारण मिथ्यात्व का अर्थात् सातों तत्त्वों की भूलों एवं देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी भूलों का भी त्याग कर दें। वस्तुतः जगत में कोई भी वस्तु भली-बुरी नहीं है, इष्टानिष्ट की कल्पना ही मिथ्या है और यह मिथ्या मान्यता ही इस जीव की शत्रु है। अन्य कोई शत्रु है ही नहीं।

-- -- --

मिथ्यात्व भी कोई ऐसा शत्रु नहीं है, जो कहीं शहर या गाँव में रहता हो। ऐसा शत्रु भी नहीं है, जिसका अस्त्रों-शस्त्रों से नाश किया जा सके। अपनी तत्त्व सम्बन्धी मिथ्या मान्यता का नाम ही मिथ्यात्व है।

-- -- --

मिथ्यात्व तो अपना ही मिथ्याभाव है। सच्चे वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु एवं जीव-अजीव आस्रव बंध आदि सात तत्त्वों के विषय में उल्टी मान्यता, विपरीत अभिप्राय होना, परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व की मान्यता का होना मिथ्यात्व है तथा परपदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि मिथ्यात्व का फल है। ऐसे मिथ्या अभिप्राय से निरन्तर आर्त-रौद्रभाव होते हैं जो अनन्त संसार के कारण हैं। इनका नाश तो एकमात्र इनके सम्बन्ध में सही समझ से ही होता है। और इसके लिए सर्व प्रकार से अनुकूल अवसर मिल गया है अतः यह मौका चूकने योग्य नहीं है।

-- -- --

विकथाओं से संतों को क्या प्रयोजन? तपस्वियों को तो मात्र धर्मकथायें और धर्मध्यान ही करने योग्य हैं।

तपस्वी तो वे कहलाते हैं जो केवल तप और संयम की साधना करें, आत्मा-परमात्मा की आराधना करें तथा तत्त्व चर्चा करें, वीतराग कथा करें। तपस्वियों को पापबन्ध करने वाली सांसारिक बातों से क्या प्रयोजन?

-- -- --

सबसे पहले शास्त्र स्वाध्याय द्वारा ज्ञानस्वभावी निज आत्मतत्त्व का निर्णय करना चाहिए तथा भेदज्ञान करने के लिए जीव और अजीव को भिन्न जानना फिर आत्मा और देह की भिन्न प्रतीतिपूर्वक देहादि जितने भी परद्रव्य हैं, उनसे भेदज्ञान कर स्वरूप में स्थिरता का प्रयत्न करना चाहिए।

एतदर्थ सर्वप्रथम सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में रहकर वीतरागी देव और निर्ग्रन्थ गुरु के बताये मोक्षमार्ग को यथार्थ जानें, पहचानें, फिर पर की प्रसिद्धि की हेतुभूत पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों को जीते, उन्हें मर्यादा में ले। बारह अणुव्रत धारण करें। और क्रम-क्रम से ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करते हुए आत्म साधना के मार्ग पर अग्रसर होवें। जैसे-जैसे अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ बढ़ता जाये। कषायें कृष होती जायें, निर्दोष २८ मूलगुण पालन की शक्ति हो जाये, तब मुनिव्रत धारण की योग्यता आती है; क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बिना सदोष तपस्वी होना कल्याण का मार्ग नहीं है; बल्कि हानिकारक हैं। यद्यपि तपस्वी होना अति उत्तम है; क्योंकि मुनि हुये बिना न तो आज तक किसी को मुक्ति मिली है और न मिलेगी, किन्तु जल्दबाजी में अज्ञानतप करने से कोई लाभ नहीं होता। अतः मोक्षमार्ग में समझपूर्वक ही अग्रसर होना चाहिए। अन्यथा अपना तो कोई लाभ होता नहीं, मुनि पद भी बदनाम होता है।

-- -- --

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तो वस्तुतः एक ही है, किन्तु इसका कथन दो प्रकार से है - एक निश्चय मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहार

मोक्षमार्ग। जो वस्तु जैसी है, उसका उसीरूप में निरूपण करना अर्थात् सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाय, वह निश्चय मोक्षमार्ग है, और जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे निमित्तादि की अपेक्षा किसी को किसी में मिलाकर उपचारित कथन करना व्यवहार मोक्षमार्ग है। जैसे - मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय और घी का संयोग देखकर उपचार से उसे घी का घड़ा कहना व्यवहार है।

-- -- --

व्रतों को धारण करने की जल्दी मत करो। परिपक्व होकर भूमिका के अनुसार जो व्रत होंगे वे ही निर्दोष पलेंगे। व्रत न लेने का कम दोष है और व्रतों को भंग करना महादोष ही नहीं, बल्कि अपराध है।

-- -- --

हम कभी सोच भी नहीं सकते कि अपने द्वारा किए शुभाशुभ भावों का फल किन-किन रूपों में सामने आता है। ऐसे जीव कभी आसमान में उड़ते नजर आते हैं तो कभी धरती की धूल चांटते दिखाई देते हैं।

-- -- --

कहावत तो ऐसी है कि 'कर भला तो हो भला' परन्तु यदि पुराना पाप आड़े आ जाय तो कभी दूसरों का भला करने पर भी स्वयं का बुरा होता दिखाई देता है; ऐसा होने पर भला काम करना न छोड़े क्योंकि भले काम का नतीजा तो भला ही होगा।

-- -- --

आयु शेष हो और पुण्य का उदय हो, तो उसे दुनियाँ की बड़ी से बड़ी ताकत नष्ट एवं दुःखी नहीं कर सकती।

-- -- --

पुण्य-पाप का कुछ ऐसा ही विचित्र स्वभाव है कि उनके उदय में जीव संयोग-वियोगों के झूले में झूलता हुआ संसार-सागर में गोते खाता रहता है। यदि सदा के लिए अतीन्द्रिय आनन्द, निराबाध सुख प्राप्त करना हो तो

हमें पुण्य-पाप से पार शुद्धोपयोगमय होना होगा तथा आत्मा के शुद्धस्वरूप को जानकर, उसमें ही रुचि और परिणति करना होगी। अतः यह अवसर न चूकें।

-- -- --

ये संबंध भी पूर्व संस्कारों से ही निश्चित होते हैं, जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होना होता है, उसे देखते ही अनुकूल भाव बन जाते हैं।

-- -- --

जिन्होंने पूर्व में वीतराग धर्म की साधना-आराधना करके आत्म विशुद्धि के साथ शुभभावों से विशेष पुण्यार्जन किया है, वह अकेला और निहत्था-शस्त्र रहित होकर भी अच्छे-अच्छे सशस्त्र शूवीरों को परास्त कर देता है।

अतः जो भी लौकिक जीवन को यशस्वी और सुखद बनाने के साथ पारलौकिक दृष्टि से अपना कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें जिनेन्द्र कथित वस्तुस्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों को समझना चाहिए।

-- -- --

आत्मा का हित तो आत्मा के जानने में है, अतः यदि मन को मर्यादा में रखना है तो मन के विकल्पों को भी आत्मा के अवलम्बन से तथा वस्तुस्वरूप की समझ से नियंत्रित करना चाहिए?

-- -- --

अध्यात्म की साधना, आराधना करने से जो आत्मा में शुद्धि और विशुद्धि होती है, उससे ही ऐसा पुण्य बंध होता, जिससे यह सब अनुकूलता की प्राप्ति सहज होती है। अतः तुम इस आध्यात्मिक सिद्धान्तों को कभी नहीं भूलना। और यह सब इस मनुष्य पर्याय में ही संभव है, अतः यह मौका न चूकें।

-- -- --

जो देव-गुरु-धर्म और तत्त्व का निर्णय किए बिना ही मात्र घर से

किसी कारण से उदास होकर क्रियाकाण्ड में ही धर्म मानने वाला है उसके सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेवाला इन्द्रिय संयम भी कैसे हो सकता है? जो केवल काय-क्लेश को ही तप मानता हो और मान से भरा हो। उसकी तपस्या मुक्ति का साधन कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।

-- -- --

जिसने पूर्व जन्म में जिनधर्म की आराधना कर पुण्यार्जन किया है, उसका बड़े से बड़ा शक्तिशाली शत्रु भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

-- -- --

पुण्यवान पुरुष जहाँ भी जाता है, सफलता उसके चरण ही चूमती है। यदि हम पुण्य कार्य करें तो सफलता हमारे भी चरण चूमेगी।

-- -- --

जो होता है वह होनहार और कर्मोदय के निमित्त अनुसार ही होता है। जब जो जिस निमित्त से होना होता है, वह तभी उन्हीं सब कारणों से होकर ही रहता है। अपने किये का फल प्रत्येक प्राणी को भोगना ही पड़ता है। हमारे द्वारा कभी किसी को इसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाई गई होगी। उसी का फल हमें मिल रहा है - ऐसे विचार से वैर नहीं बंधता। व्यक्ति पाप तो हँस-हँसकर बाँधता है और जब उसके फल भोगने का समय आता है तो रुदन करता है। अतः अब खोटी करनी से बचना चाहिए।

-- -- --

जब तक प्राणियों को स्व-पर कल्याणकारक धर्म का आलम्बन रहता है; तब तक कषायों की मन्दता रहती है और उन्हें अहंकार-ममकार नहीं होता। इसकारण वे सतत् सातिशय पुण्य बाँधते रहते हैं। फलस्वरूप उन्हें वर्तमान में तो लौकिक अनुकूलता मिलती ही है और आगे चलकर वे अपूर्व पुरुषार्थ से कर्मों का अभाव करके अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं। तथा जो अज्ञान के कारण अहंकारी होकर दूसरों का बुरा-भला करने की ही सोचते रहते हैं वे पुण्यकर्म कम और पाप ही अधिक बाँधते हैं।

-- -- --

तीर्थकर जैसे पुण्यवान एवं पवित्र आत्मा जब जगत में जन्म लेते हैं, अवतरित होते हैं तो उनके निमित्त से नगर में सहज-सम्पन्नता हो जाती है - तीर्थकर जीव के सातिशय पुण्य का ऐसा ही प्रभाव होता है, अतः ऐसे कथनों में शंका करने की ऐसी कोई गुंजाइश नहीं है कि देवों द्वारा बरसाये रत्न कैसे होंगे? उनका मार्केट में क्या मूल्य होगा?’ यह कथन समृद्धि का प्रतीक भी तो हो सकता है। जैसे लोक में अनाजों की फसलों की आवश्यकतानुसार जब अनुकूल जल वर्षा होती है तो लोग कहते हैं कि “यह पानी नहीं सोना बरस रहा है।” इससे कोई ऐसा नहीं मानता कि ओलों की भाँति स्वर्ण के कण बरसते होंगे और लोग लूटते-फिरते होंगे, झगड़ते होंगे।

-- -- --

भगवान कोई अलग नहीं होते। जो भी जीव विश्व कल्याण की भावना भाता है। वह स्वयं तो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ से अपने आप में आत्मिक शान्ति, निराकुल सुख एवं आत्मा की अनुभूति तो करता ही है, साथ ही उसके अन्दर ऐसी उज्ज्वल परोपकार की भावना प्रबलरूप से जागृत होती है कि - “काश! सारा जगत इस स्वतंत्र स्वसंचालित विश्व व्यवस्था को समझ ले तो पर के कर्तृत्व के भार से तथा पर को सुखी-दुःखी करने की मिथ्या अवधारणाओं से जो परेशानियाँ होती हैं, वे समस्त परेशानियाँ, सारे मानसिक कष्ट मिट सकते हैं।

-- -- --

ऐरावत हाथी वस्तुतः अभियोग जाति का देव होता है, जो इन्द्र की आज्ञा और स्वयं की भक्तिभावना से अपनी विक्रिया से ऐरावत हाथी का रूप धारण करता है; इसकारण उसका रूप सामान्य गजराजों से भिन्न अद्भुत हो तो इसमें आश्चर्य और शंका करने की गुंजाइश नहीं है।

-- -- --

जब होनहार भली है, तब मार्ग में आने वाली विपत्तियाँ स्वतः सम्पत्तियों में बदल जाती हैं।

-- -- --

जिस तरह गुलाब में जहाँ फूल होते हैं, वहाँ काँटे भी होते हैं, ठीक इसीतरह जरासंध जैसे व्यक्तियों में जहाँ अच्छाइयाँ होती हैं, वहीं कुछ कमियाँ भी होती हैं। ऐसे व्यक्ति अहंकारी बहुत होते हैं, इसकारण दूसरों की अपरिमित शक्ति को स्वीकार ही नहीं कर पाते।

नारायण कृष्ण के पुण्य का प्रताप और बलभद्र बलराम का पौरुष बालकपन से ही जगजाहिर था; इन्द्रों के आसन को कम्पित कर देने वाले तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभुत्व तीनों लोकों में प्रगट हो चुका था; फिर भी जरासंध अपने अहंकार में इतना चकचूर था कि उसका सारा विवेक कुंठित हो गया था। जिस तीर्थंकर की सेवा में समस्त लोकपाल तत्पर रहते हों, उस तीर्थंकर के कुल का कौन अहित कर सकता है? फिर भी अज्ञानी क्रोधावेश में अपनी कमजोरी और दूसरों के अपरिमित शक्ति को पहचान नहीं पाता।

-- -- --

जब जो होना होता है, तब वही होता है और तदनुसार सभी कारण भी सहज सुलभ हो जाते हैं। अर्थात् स्वभाव पुरुषार्थ होनहारकाललब्धि और निमित्त - पाँचों समवाय सहज ही मिल जाते हैं। जिन निमित्त कारणों की हम कल्पना भी नहीं कर सकते, वे भी अचानक आकाश से उतर आते हैं।

-- -- --

नारी के लिए तो जैसा पति का पवित्र प्रेम वैसा ही भाई का पवित्र प्रेम। वह बेचारी जब कभी-कभी दो पाटों के बीच में पिसने जैसी स्थिति में आ जाती है तो उसका तो दोनों ओर से दुःखी होना स्वाभाविक ही है।

-- -- --

इस संसार में प्राणियों को सुख-दुःख देने वाले संयोग-वियोग तो होते

ही रहते हैं; परन्तु जो तत्त्वज्ञान के आलम्बन से कर्मों के शुभाशुभ क्षणिक फलों की स्थिति को जानते हैं एवं वस्तुस्वरूप की श्रद्धा रखते हैं, वे ऐसी स्थिति में परिस्थिति का विचार कर तत्त्वज्ञान को ही बारम्बार स्मरण करके अपनी मनः स्थिति पर काबू करके धैर्य रखते हैं। यही तो तत्त्वज्ञान का लाभ है, अन्यथा कोरा शास्त्र ज्ञान तो बोझा ही है।

-- -- --

समोशरण का यह भी एक अतिशय है कि - तीर्थंकर द्वारा किसी के प्रश्नों के सीधे उत्तर दिए बिना ही शंकाकार की शंकाओं का पूरा समाधान सहज ही स्वतः हो जाता है। समोशरण में उपस्थित श्रोताओं के मन में जो भी छोटी-मोटी शंकायें होती हैं, उन सबका समाधान बिना उत्तर दिये अपने आप होता है।

-- -- --

देखो, धन, जाति, कुल और शास्त्रीय ज्ञान का गर्व करना कुगति का कारण है। पर्याय पलटते ही न जाति का कोई ठिकाना रहता है, न कुल का। पापकर्म के फल में क्षण में राजा रंक हो जाता है, रुग्ण होकर दुःखी हो जाता है, संक्लेश परिणामों से मरण कर नरकों में भी चला जाता है और पशु भी अकाम निर्जरा करके मनुष्यगति और देवगति प्राप्त कर लेता है। पुराणों में तो ऐसे अनेक उदाहरण मिलते ही हैं, हम अपने जीवन में भी दिन-रात ऐसी घटनायें देखते-सुनते रहते हैं।

-- -- --

द्रव्यदृष्टि से तो हम सभी अनन्त गुणों के घनपिण्ड और अनन्तशक्तियों के पुंज हैं ही, कोई भी किसी से कम नहीं है, अतः अहंकार करने की बात ही नहीं बनती और पर्यायदृष्टि में जो अन्तर दिखाई देता है, वह भी बादल और बिजली की भाँति क्षण भंगुर है, उस क्षणिक अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में भी हर्ष-विषाद करना निरर्थक ही है।

-- -- --

पाप के उदय से प्राणियों को दुर्गति मिलती है और पुण्य के उदय से सुगति प्राप्त होती है और ये पुण्य-पाप, धूप-छाँव की तरह बदलते ही रहते हैं, इसलिए जाति का गर्व करना व्यर्थ है।

-- -- --

इस संसार में व्यक्ति बहुरूपिया के समान रूप बदलते रहते हैं - स्वामी सेवक हो जाता है, सेवक स्वामी हो जाता है, पिता पुत्र हो जाता है, पुत्र पिता हो जाता है, माता स्त्री हो जाती है, स्त्री माता हो जाती है। इसमें भ्रमण करने वाले जीव निरन्तर ऊँच-नीच अवस्था को प्राप्त होते ही रहते हैं।

-- -- --

जब व्यक्ति के बुरे दिन आते हैं, तब बुद्धि वैसी ही विपरीत हो जाती है और चेष्टाएँ भी वैसी ही करने लगती हैं और बाह्य कारण भी तदनुकूल मिल ही जाते हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञानियों को समता के सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

-- -- --

ये इन्द्रियों के विषयसुख यद्यपि वर्तमान में सुखद लगते हैं, किन्तु वस्तुतः ये अविचारित रम्य हैं, विचार करने पर तो स्पष्ट समझ में आता है कि जो इन्द्रिय सुख आदि में, मध्य में और अन्त में आकुलता ही उत्पन्न करते हैं, बाधा सहित हैं, क्षणिक हैं, पापबन्ध के कारण हैं, इन्हें कोई भी समझदार सुखद नहीं कह सकता।

-- -- --

जो ज्ञानीजन इस निरंकुश मन को आत्मज्ञान और वैराग्य से वश में कर लेते हैं, वे ज्ञानी धन्य हैं।

-- -- --

जहाँ स्वस्त्री के प्रति अति आसक्ति होने को भी पापबन्ध का कारण होने से त्याज्य कहा हो, वहाँ परस्त्री के प्रति होनेवाली आसक्ति के पापबन्ध की तो बात ही क्या कहें? उसके विषय में तो सोचना भी महापाप है,

नरक-निगोद का कारण है। शास्त्रों में कहा है कि यह मनरूपी मदोन्मत्त हाथी ज्ञानरूपी अंकुश से रोके जाने पर भी बड़े-बड़े विद्वानों तक को कुमार्ग में गिरा देता है तो जो साधारण ज्ञानहीन हैं, जिनके पास ज्ञान और वैराग्य के बल का अंकुश नहीं है, उनकी दुर्दशा की क्या कथा करें?

-- -- --

जब क्रोध किसी के प्रति लम्बे काल तक बना रहता है तो वही क्रोध बैर के रूप में भव-भव में दुःख का कारण बनता है। बैर की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'बैर क्रोध का ही अचार या मुरब्बा है।'

-- -- --

अपने द्वारा जाने-अनजाने में हुए अपराधों की क्षमायाचना करके और दूसरों को क्षमादान देकर सब पाप का हिसाब यहीं चुकता कर देना चाहिए। क्षमावाणी पर्व के भी इसी कारण गीत गाये जाते हैं और प्रतिवर्ष जोर-शोर से मनाया जाता है; फिर भी यदि कोई क्रोध की गाँठ बाँध कर रखे तो उससे बड़ा मूर्ख दुनिया में दूसरा कोई नहीं होगा। सचमुच ऐसे बैरभाव को पुनः पुनः धिक्कार है।

-- -- --

यदि हम चाहते हैं कि ये कुगति की कारणभूत मानादि कषायें हमें न हों तो हम सर्वप्रथम स्व-पर का भेदज्ञान करके परपदार्थों में एकत्व-ममत्वभाव छोड़ें और पुण्य-पापों के फलों में प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों की क्षणभंगुरता का विवेक जाग्रत करें।

-- -- --

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह संग्रह रूप पाँचों पापों से हमारी कुगति तो होती है है, दूसरों के प्राण भी पीड़ित होते हैं अतः इनसे हमें सदैव संकल्पपूर्वक बचना चाहिए।

-- -- --

तप दो प्रकार के हैं - एक। अन्तरंग तप और दूसरा - बहिरंग तप।

अनशन, उनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शैया और आसन तथा कायक्लेश। - ये बहिरंग तप हैं। आत्मा की पवित्रता के लिए ये भी यथाशक्ति करना ही चाहिए।

प्रायश्चित, विनय, वैयाव्रत, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान - ये अन्तरंग तप हैं। जो आत्मा के निर्मल परिणामों और विषय-कषायों की मन्दता में होते हैं।

-- -- --

जिसे यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रकट हो चुका है, आत्मानुभूति हो गई है, उसे ही ज्ञानी कहते हैं। ऐसा ज्ञानी जीव जब अपने में देशचारित्र स्वरूप आत्मशुद्धि प्रकट करता है, तब वह व्रती श्रावक कहलाता है।

-- -- --

जो आत्मशुद्धि प्रकट हुई, उसे निश्चयव्रत कहते हैं और उक्त आत्मशुद्धि के सद्भाव में जो हिंसादि पंच पापों के त्याग तथा अहिंसादि पंचाणुव्रत धारण करते हैं, उन्हें व्यवहार व्रत कहते हैं। इसप्रकार के शुभभाव ज्ञानी श्रावक के सहजरूप में प्रकट होते हैं।

-- -- --

ये व्रत बारह प्रकार के होते हैं। उनमें हिंसादि पाँच पापों के एकदेश (आंशिक) त्यागरूप पाँच अणुव्रत होते हैं। इन अणुव्रतों के रक्षण और अभिवृद्धिरूप तीन गुणव्रत तथा महाव्रतों के अभ्यासरूप चार शिक्षाव्रत होते हैं।

-- -- --

१. अहिंसाणुव्रत - हिंसाभाव के स्थूलरूप में त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं। इसे समझने के लिए पहिले हिंसा को समझना आवश्यक है। कषायभाव के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना भावहिंसा है और उक्त कषायभाव निमित्त है जिसमें ऐसे अपने और पराये द्रव्यप्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है।

आत्मा में रागादि दोषों का उत्पन्न होना भावहिंसा है तथा उनका

उत्पन्न होना ही निश्चय से अहिंसा है।

राग-द्वेषादि भाव न करके, योग्यतम आचरण करते हुए सावधानी रखने पर भी यदि किसी जीव का घात हो जाये, तो वह हिंसा नहीं है। सारांश यह है कि हिंसा और अहिंसा का निर्णय प्राणी के मरने या न मरने से नहीं, रागादि भावों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से है।

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु हैं जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक क्रिया गया प्राणघात ही संकल्पी हिंसा है।

व्यापारादि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरंभादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी और आरंभी हिंसा है।

अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन आदि पर किए गये आक्रमण से रक्षा के लिये अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।

व्रती श्रावक उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में संकल्पी हिंसा का तो सर्वथा त्यागी होता है। अर्थात् सहजरूप से उसके इसप्रकार के भाव ही उत्पन्न नहीं होते हैं। अन्य तीनों प्रकार की हिंसा से भी यथासाध्य बचने का प्रयत्न रखता है।

२. सत्याणुव्रत - प्रमाद के योग से असत् वचन बोलना असत्य है, इसका एकदेश त्याग ही सत्याणुव्रत है।

३. अचौर्याणुव्रत - जिस वस्तु में लेने-देने का व्यवहार है, ऐसी वस्तु को प्रमाद के योग से उसके स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करना चोरी है। ऐसी चोरी का त्याग अचौर्यव्रत हैं। चोरी का त्यागी होने पर भी गृहस्थ कूप, नदी आदि से जल एवं खान से मिट्टी आदि वस्तुओं को बिना पूछे भी ग्रहण कर लेता है। एकदेश चोरी का त्यागी होने से यह अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत - जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत धारण करने में असमर्थ हैं, वे स्वस्त्री में संतोष करते हैं और परस्त्री-रमण के भाव को सर्वथा त्याग देते हैं, उनका यह व्रत एकदेशरूप होने से ब्रह्मचर्याणुव्रत

कहलाता है।

५. परिग्रह परिणामव्रत – अपने से भिन्न पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि ही परिग्रह है। यह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नवनोकषाय – ये चौदह अंतरंग – परिग्रह के भेद हैं। तथा जमीन-मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, नौकर-नौकरानी, बर्तन आदि अन्य चेतन-अचेतन वस्तुयें बाह्य परिग्रह हैं। उक्त परिग्रहों में गृहस्थ के मिथ्यात्व नामक परिग्रह का तो पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है तथा बाकी अंतरंग परिग्रहों का कषायांश के सद्भाव के कारण एकदेश त्याग होता है तथा वह बाह्य परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेता है। इस व्रत को परिग्रह परिमाणव्रत कहते हैं।

-- -- --
गुणव्रत – दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत, ये तीन गुणव्रत हैं।

-- -- --
शिक्षाव्रत – जिनसे मुनिव्रत पालन की शिक्षा मिले, वे शिक्षाव्रत हैं। ये चार हैं – सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व्रत और अतिथि संविभाग व्रत।

१. सामायिकव्रत – सम्पूर्णद्रव्यों में राग-द्वेष के त्यागपूर्वक समताभाव का अवलम्बन करके आत्मस्वभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक है। व्रती-श्रावक प्रातः, दोपहर, सायं कम से कम अन्तर्मुहूर्त एकान्त स्थान में सामायिक करते हैं।

२. प्रोषधोपवास व्रत – कषाय, विषय और आहार का त्याग कर आत्मस्वभाव के समीप ठहरना उपवास है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को सर्वारिंभ छोड़कर उपवास करना ही प्रोषधोपवास है।

३. भोगोपभोगपरिमाण व्रत – प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग का परिमाण घटाना भोगोपभोग

परिमाणव्रत है। पंचेन्द्रिय के विषयों में जो एक बार भोगने में आ सकें उन्हें भोग और बार-बार भोगने में आवें उन्हें उपभोग कहते हैं।

४. अतिथि संविभाग व्रत – मुनि, व्रती श्रावक और अव्रती श्रावक इन तीन प्रकार के पात्रों को अपने भोजन में से विभाग करके विधिपूर्वक आहार दान देना अतिथि संविभाग व्रत है।

-- -- --
 दुर्जनों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे दूसरों को सुखी नहीं देख सकते, यदि वे कुटुम्ब के हों तब तो उनकी ईर्ष्या का कहना ही क्या है?

-- -- --
 व्यक्ति अपनी खोटी भावना करके स्वयं पाप बाँध लेता है, दूसरों का बुरा करना तो किसी के हाथ में है नहीं। उसका भला-बुरा तो उसके स्वयं के पुण्य-पाप के परिणामों से होता है। यदि यह बात समझ में आ जाये तो कोई किसी का बुरा चाहेगा ही क्यों?

-- -- --
 यदि अपने पुण्य-प्रताप के बिना मात्र देवी-देवताओं द्वारा संसार में इष्टफल दिया जा सकता होता तो किसी भी मनुष्य को इष्ट सामग्री से रहित नहीं होना चाहिए; क्योंकि प्रायः सभी लोग अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए अपने इष्ट देवों की उपासना निरन्तर करते देखे जाते हैं।

वस्तुतः मनुष्यों की कार्यसिद्धि तो अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार होती है, परन्तु देवताओं की प्रतिनिधि रूप मूर्ति की उपासना करनेवाला उस सिद्धि को मूर्ति द्वारा दिया हुआ मानता है। इसकारण मूर्ति के समक्ष दूसरों के प्राणों की बलि देने लगता है, जो निर्दय परिणामों के बिना संभव ही नहीं है, यह कुकृत्य महापाप है।

-- -- --
 जो रागी-द्वेषी देवी-देवता अपनी मूर्ति और मन्दिर स्वयं नहीं बना सकते तथा उनकी सुरक्षा भी नहीं कर सकते और जिन्हें प्रतिदिन उपयोग में आनेवाली दीप, धूप, फल, फूल, नैवेद्य आदि के लिए भक्तों द्वारा पूजा की

अपेक्षा/आशा करनी पड़ती हो, दूसरों का मुँह देखना पड़ता हो, वे दूसरों के लिए क्या वरदान देंगे? उनकी क्या रक्षा करेंगे?

-- -- --

मनुष्य की सम्यक्श्रद्धा ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का कारण है। अतः सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु एवं साततत्त्व की तथा आत्मा के स्वरूप की सम्यक् श्रद्धा होना अनिवार्य है; क्योंकि व्रत, तप, शील, संयम आदि सम्यक्दर्शन की शुद्धि से ही निर्मल होते हैं; अतः सर्वप्रथम अन्य रागी-द्वेषी देवी-देवताओं से रहित वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु तथा सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

-- -- --

कोई कितनी भी तैयारी करे, कितनी भी चक्रव्यूहों की रचना में अपनी चतुराई दिखाये, किन्तु जिसने धर्माचरण द्वारा विशेष पुण्यार्जन किया होगा - वही विजयी होगा। युद्ध में विजय तो एक पक्ष की ही निश्चित है। जिसके पल्ले पुण्य कम होगा, उसे तो हारना ही है, अतः चक्रव्यूह के साथ अपने परिणामों के दुष्चक्र को भी सुधारना चाहिए; क्योंकि लौकिक सफलता प्राप्त करने में पराक्रम के साथ पुण्य का भी योगदान होता है।

-- -- --

जिस तरह सैकड़ों नदियां भी समुद्र से सन्तुष्ट नहीं कर पाती; उसी तरह सांसारिक सुख के साधन जीवों का दुःख दूर नहीं कर पाते हैं।

-- -- --

ये प्राणी स्त्रीपर्याय में तीनोंपन में पराधीन रहता है। बचपन में पिता के आधीन, युवावस्था में पति के आधीन और बुढ़ापे में पुत्र के आधीन। और पराधीनता में स्वप्न में भी सुख नहीं है। यदि पति या पुत्र दुर्बल हुआ, बीमार हुआ, अल्प आयु हुआ, मूर्ख हुआ, क्रोधी, मानी या लोभी और दुर्व्यसनी हुआ तब तो महादुःख है ही और यदि स्वयं बंध्या हुई, मृत संतान

हुई... तब भी दुःखी ही रहती है। इसप्रकार न जाने कितने दुःख नारियों के होते हैं। अतः ऐसी दुःखद स्त्रीपर्याय में न जाना हो, इस पर्याय से सदा के लिए मुक्त होना हो तो मायाचार, छलकपट का भाव और वैसा व्यवहार छोड़ें तथा सम्यग्दर्शन की आराधना करें तथा तत्त्वज्ञान का कोई अवसर न चूकें।

-- -- --

पीड़ा को आर्ति कहते हैं। आर्ति के समय जो ध्यान होता है, उसे आर्तध्यान कहते हैं। यह आर्तध्यान कृष्ण, नील व कापोत लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से यह आर्तध्यान दो प्रकार का है। रोना, दुःखी होना आदि तथा दूसरों की लक्ष्मी देख ईर्ष्या करना और विषयों में आसक्त होना आदि बाह्य आर्तध्यान है।

-- -- --

अपना आर्तध्यान स्वसंवेदन से जाना जाता है। और दूसरों का अनुमान से। आभ्यन्तर आर्तध्यान के चार भेद हैं। अभीष्ट वस्तु की उत्पत्ति न होने से चिन्ता करना, अनिष्ट संयोग से दुःखी होना, चिन्तित रहना, इष्टवस्तु का कभी वियोग न हो जाय - ऐसी चिन्ता करना अनिष्ट वस्तु का संयोग न हो जाय - ऐसी चिन्ता आर्तध्यान है।

-- -- --

पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान शारीरिक व मानसिक के भेद से दो प्रकार का है - वातव्याधियाँ वायु के प्रकोप से उत्पन्न उदरशूल, नेत्रशूल, दन्तशूल आदि नाना प्रकार की दुःसह शारीरिक बीमारियों से पीड़ा होना शारीरिक पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान हैं। शोक, अरति, भय, उद्वेग विषाद आदि बैचेनी मानसिक दुःख से दुःखी होना मानसिक आर्तध्यान हैं।

ये आर्तध्यान तिर्यचगति का कारण है।

-- -- --

रौद्रध्यान – क्रूर अभिप्राय वाले जीव को रुद्र कहते हैं। उसको जो पापों में आनन्द मानने रूप ध्यान होता है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं। यह हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द के भेद से चार प्रकार का होता है। जिसको हिंसा आदि पापों में आनन्द आता है, अभिरूचि होती है, वह हिंसानन्द, मृषानन्द आदि रौद्रध्यान है। यह बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। १. क्रूर व्यवहार करना, गाली आदि अशिष्ट (अभद्र) वचन बोलना बाह्य रौद्रध्यान है।

२. अपने आप में पाया जाने वाला हिंसा आदि कार्यों में समरम्भ-समारम्भ एवं आरंभ रूप प्रवृत्ति आभ्यन्तर रौद्रध्यान है।

अपनी कल्पित युक्तियों से दूसरों को ठगना मृषानन्द रौद्रध्यान है। प्रमादपूर्वक दूसरों के धन को जबरदस्ती हरने का अभिप्राय रखना स्तेयानन्द रौद्रध्यान है। चेतन-अचेतन परिग्रह का रक्षा का अभिप्राय रखना, ये मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, इसप्रकार निरंतर चिन्तन करना परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।

-- -- --

धर्मध्यान – शास्त्रों के अर्थ की खोज करना, शीलव्रत का पालन करना, गुणों के समूह में अनुराग करना, शरीर को निश्चल रखना, व्रतों से युक्त होना – ये धर्मध्यान के बाह्य लक्षण हैं।

यह धर्मध्यान अपाय, उपाय, जीव, अजीव, विपाक, विराग, भव, संस्थान, आज्ञा और हेतु के भेद से १० प्रकार का है।

अपाय विचय – त्याग का विचार। मन-वचन-काय की चंचल प्रकृति का त्याग कैसे हो? इसका विचार।

उपाय विचय – पुण्यरूप योग प्रवृत्तियाँ किसप्रकार संभव हैं – ऐसा विचार करना।

जीव विचय – अनादि-अनन्त, सादि-सान्त आदि जीव के स्वभाव का चिन्तन करना।

अजीव विचय – अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिन्तन करना।

विपाक विचय – कर्मों के फल का विचार करना।

विराग विचय – शरीर अपवित्र है, भोग मधुर विषफल के समान मृत्यु के कारण हैं – इनसे विरक्त होने रूप चिन्तन।

भव विचय – चतुर्गति भ्रमणरूप अवस्था भव है और यह भव दुःखमय है – ऐसा चिन्तन करना।

संस्थान विचय – लोक के आकार का विचार करना।

आज्ञा विचय – इन्द्रियों से अगोचर बंध-मोक्षादि में भगवान की आज्ञानुसार चिन्तन करना।

हेतु विचय – स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर समीचीन मार्ग का चिन्तन।

यह धर्मध्यान चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है, स्वर्ग का साक्षात् एवं मोक्ष का परम्परा कारण है।

-- -- --

सभी जीव दुःख से मुक्त होना चाहते हैं, सुखी होना चाहते हैं, सदा सुखी रहना चाहते हैं, सच्चे सुख को पाने का उपाय एकमात्र आध्यात्मिक अध्ययन और आत्मध्यान से होता है। वह उपाय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समुदायरूप है। जीवादि सात तत्त्वों का निर्मल श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

-- -- --

जीव का लक्षण उपयोग है। वह उपयोग आठ प्रकार का है। मति, श्रुत, अवधि – ये तीन सम्यक् एवं मिथ्यारूप होते हैं। मन, पर्यय और केवलज्ञान मात्र सम्यक् ही होते हैं। इसप्रकार सब मिलाकर उपयोग के आठ भेद हुए।

-- -- --

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सांसारिक सुख-दुःख – ये सब चिद्विकार हैं, भगवान आत्मा अनादि-अनंत हैं, विज्ञानघन हैं, अनंतगुण एवं अनन्तशक्तियों

से सम्पन्न हैं। ये ही जीव की पहचान हैं। यह जीव स्वयं द्रव्यरूप हैं, ज्ञाता-दृष्टा है, स्वयं का कर्ता-भोक्ता है, उत्पाद-व्ययरूप है, असंख्यात प्रदेशी हैं। गुणों का समुदाय है, संकोच-विस्ताररूप है। अपने शरीर प्रमाण है। वर्णादि बीस गुणों से रहित है।

--

--

--

वस्तु के अनेक पक्ष होते हैं, उनमें अन्य सबको गौण रखकर किसी एक को मुख्य करके कथन करना नय का काम है। इसके द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दो भेद हैं। इनमें द्रव्यार्थिकनय वस्तु के यथार्थस्वरूप को कहते हैं। ये ही दो मूलनय हैं। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं।

--

--

--

वस्तुतः तो निश्चयनय एक ही है, परन्तु प्रयोजनवश इसके चार भेद किये गये हैं। मूल में तो दो भेद ही किए हैं। एक शुद्ध निश्चयनय, दूसरा अशुद्धनिश्चयनय। पुनः शुद्ध निश्चयनय के तीन भेद किए। १. परमशुद्ध निश्चयनय २. साक्षात् शुद्ध निश्चयनय ३. एकदेश शुद्ध निश्चयनय। इस प्रकार इसके निम्नांकित चार भेद हो गये।

--

--

--

परमशुद्धनिश्चयनय – इसका विषय पर व पर्याय से रहित अभेद-अखण्ड नित्य वस्तु है। अतः इसका कोई भेद नहीं होता। इस नय की विषयवस्तु ही दृष्टि का विषय है।

--

--

--

साक्षात् शुद्धनिश्चयनय – यह नय आत्मा को क्षायिक भावों से (केवलज्ञानादि से) सहित बताता है। ध्यान रहे, इस दूसरे भेद का एक नाम शुद्ध निश्चयनय भी है, जो मूलनय के नाम से मिलता-जुलता है; अतः अर्थ समझने में सावधानी रखें।

--

--

--

एकदेशशुद्धनिश्चयनय – इस नय से मतिश्रुतज्ञानादिपर्यायों को जीव का कहा है। जैसे – मतिश्रुत-ज्ञानी जीव।

अशुद्धनिश्चयनय – यह नय आत्मा को रागादि विकारी भावों से सहित होने से रागी-द्वेषी-क्रोधी-ज्ञानी आदि कहता है।

--

--

--

ज्ञातव्य है कि कहीं-कहीं परम शुद्ध निश्चयनय के सिवाय शुद्ध निश्चयनय के तीनों भेदों का प्रयोग व्यवहारनय के रूप में भी प्रयोग किया है। अतः अर्थ समझने में सावधानी की जरूरत है।

--

--

--

व्यवहारनय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में गुण-गुणी एवं पर्याय-पर्यायवान आदि भेद करके तथा देह व जीव आदि दो भिन्न द्रव्यों में अभेद करके वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है।

व्यवहारनय के भी मूलतः चार भेद हैं –

उपचरित असद्भूतव्यवहारनय – इस नय से संश्लेष सम्बन्ध रहित परद्रव्य जैसे स्त्री-पुत्र, परिवार एवं धनादि को अपना कहा जाता है। इसे न मानने से स्वस्त्री-परस्त्री का विवेक नहीं रहेगा, निजघर-परघर, निजधन-परायाधन आदि का व्यवहार संभव न होने से नैतिकता का हास होगा। लोक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी।

--

--

--

अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय – इस नय से संश्लेष सम्बन्ध सहित देह को ही जीव कहा जाता है, जिसे न मानने से द्रव्यहिंसा से बचाव नहीं हो सकेगा अर्थात् राख (भस्म) मसलना और पंचेन्द्रिय जीव का गला दबाना एक समान हो जायेगा।

--

--

--

उपचरितसद्भूतव्यवहारनय – यह नय विकार एवं गुण-गुणी में भेद करके उन्हें जीव कहता है। जैसे राग का कर्ता जीव, क्रोध का कर्ता जीव।

इसे न मानें तो संसारी व सिद्ध में भेद नहीं रहने से चरणानुयोग व करणानुयोग के विषय का क्या होगा?

-- -- --
अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय – पर्याय-पर्यायवान् एवं गुण-गुणी में भेद करना। जैसे – आत्मा में केवलज्ञान आदि अनन्तगुण एवं शक्तियाँ हैं। इसे न मानने से स्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होगा।

-- -- --
अजीवतत्त्व – जीव संबंधित अजीव पदार्थ अजीवतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व की संरचना अपनी-अपनी योग्यतानुसार तज्जातीय पुद्गल स्कन्धों से स्वतः ही होती रहती है। ऐसी सामर्थ्य पुद्गल स्कन्धों में स्वयं की है।

इस शरीर में एकत्व से ही ये संसारी जीव अटके हैं। स्वयं जीव हैं, उसे तो जानते-पहचानते नहीं और शरीर को ही सब कुछ मानकर बहिरात्मा बना है। अतः इसे अवश्य जानें।

-- -- --
आस्रवतत्त्व – काय, वचन एवं मन की क्रिया को योग कहते हैं, योग की क्रिया से कार्माण वर्गणाओं का आना आस्रव कहलाता है। उसके शुभ-अशुभ दो भेद हैं।

आस्रव के स्वामी दो हैं – कषाय सहित जीवों को जो आस्रव होता है उसका नाम साम्परायिक है और कषायरहित जीवों को जो आस्रव होता है उसका नाम ईर्यापथ आस्रव है। साम्प्रदायिक आस्रव दुःखद हैं, इन्हें जानकर इनका त्याग कर दें।

-- -- --
बन्धतत्त्व – कषाय से क्लुषित जीव प्रत्येक क्षण कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बन्ध कहलाता है। यह बन्ध अनेक प्रकार का है,

सामान्यरूप से बन्धप्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार भेदरूप हैं।

-- -- --
 प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। जिसप्रकार नीम की प्रकृति कड़वी (तिक्त) है, उसी तरह ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति ज्ञान पर आवरण करना है।

कर्मों को अपने स्वभाव में टिकाये रखना स्थितिबंध है। जैसे – कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्ध जो कर्म की शक्ति विशेष (तीव्र अथवा मंदभावों) से रहती हैं वह अनुभाग बंध है। और कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धों के समूह में परमाणु के प्रमाण से भासित खण्डों की संख्या प्रदेश बंध है।

आत्म परिणामों में स्थित मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – ये बन्ध के कारण हैं। इनमें मिथ्यादर्शन (निसर्गज) अगृहीत और अन्योपदेशज (गृहीत) के भेद से दो प्रकार का है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से अनादिकाल से चली आ रही तत्त्व की अश्रद्धा अगृहीत मिथ्यादर्शन है और दूसरों के उपदेश से अतत्त्व की श्रद्धा होना गृहीत मिथ्यात्व है।

-- -- --
 एकांत, विपरीत, विनय, संशय व अज्ञान – ऐसे पाँच भेद तो हैं ही; क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक और अज्ञानी के भेद से चार भेद भी आगम में गिनाये हैं। इनमें वैनयिक और अज्ञान तो दोनों भेदों में समान ही हैं; शेष तीन में असमानता है।

पाँच इन्द्रिय और मन को वश में नहीं करना एवं छहकाय के जीवों की रक्षा नहीं करना यह १२ प्रकार की अविरति है। पंद्रह प्रकार का प्रमाद और पच्चीस कषायें तथा पंद्रह प्रकार का योग ये सब बन्ध के कारण हैं।

प्रकृति और प्रदेशबंध योग के निमित्त से होता है तथा स्थिति व अनुभाग में कषाय निमित्त होती है।

आस्रव का रूक जाना संवर है। यह भाव संवर और द्रव्य संवर के भेद से दो प्रकार का है। संसार की कारणभूत रागादि क्रियाओं का रुक जाना भाव संवर है और कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का आना रुक जाना द्रव्य संवर है। तीन गुप्तियाँ, पाँच समितियाँ, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षार्ये, पाँच प्रकार का चारित्र और बाईस परिषहजय - ये संवर के कारण हैं।

-- -- --

जैन भूगोल के अनुसार जम्बूद्वीप के दक्षिण में जो गंगा-सिन्धु के बीच भरतक्षेत्र है, वहाँ भोगभूमि की समाप्ति तथा कर्मभूमि के प्रारंभ में चौदह कुलकर हुये, उनमें पहला कुलकर प्रतिश्रुत था। यह प्रभावशाली व्यक्तित्व का धनी पूर्वभव के संस्मरण से सहित था। उसके समय प्रजा को अक्समात् पूर्णमासी के दिन प्रथम बार आकाश में एक साथ दो चमकते हुए बिम्ब दिखाई दिये। उन्हें देख प्रजा के लोग अपने ऊपर आये भयंकर उत्पात की आशंका से भयभीत हो उठे तथा सभी प्रजा प्रतिश्रुत कुलकर की शरण में आ गई। तब प्रतिश्रुत ने कहा - आप लोग भयभीत न हों। ये पश्चिम में सूर्यमण्डल और पूर्वदिशा में चन्द्रमण्डल दिखाई दे रहा है। ये दोनों ज्योतिषी देवों के स्वामी हैं, भ्रमणशील हैं एवं निरन्तर सुमेरू पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुये घूमते रहते हैं। पहले भोगभूमि के समय इनका प्रकाश (प्रभा पुंज) ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों से आच्छादित तथा इसकारण ये दृष्टिगोचर नहीं थे। अब उनकी प्रभाक्षीण हो जाने से ये दिखाई देने लगे हैं। अब सूर्य के निमित्त से दिन-रात प्रकट होंगे और चन्द्रमा के निमित्त से कृष्णपक्ष व शुक्लपक्ष का व्यवहार चलेगा। दिन में चन्द्रमा सूर्य के तेज से अस्त जैसा हो जाता है, स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता और सूर्यास्त के बाद रात को स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

-- -- --

प्रतिश्रुत नाम के इन प्रथम कुलकर ने ही भोगभूमि के अंत और कर्मभूमि

के प्रारंभ होने से उत्पन्न इन भयों के कारण उत्पन्न राज्य की अव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिये हा। मा॥ और धिक॥। दण्ड की ये तीन धारार्ये स्थापित की। यदि कोई स्वजन या परजन काल दोष से मर्यादा को लांगता था तो उसके साथ अपराधी के अनुरूप इन दण्डों का प्रयोग किया जाता था।

-- -- --

इन्हीं प्रतिश्रुत के कुल में क्रमशः सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विपुल वाहन, चक्षुस्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित और अन्तिम चौदहवें कुलकर के रूप में राजा नाभिराय हुये। राजा नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र के रूप में ही वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ।

-- -- --

ये १४ कुलकर समचतुरस्र संस्थान (सुडौल शरीर) और वज्रवृषभनाराच संहनन (वज्र के समान सुदृढ़ शरीर) के धारक थे। इन्हें अपने-अपने पूर्वभव का स्मरण ज्ञान था। इनकी मनु संज्ञा थी अर्थात् ये मनु कहलाते थे।

-- -- --

यह अटल नियम है कि होनी को कोई टाल नहीं सकता, जब जिसके निमित्त से जो होना है, वही तभी उसी के निमित्त से होकर रहता है, उसे इन्द्र और जिनेन्द्र भी आगे-पीछे नहीं कर सकते, टाल भी नहीं सकते।

-- -- --

दूसरों का अपकार करने वाला पापी मनुष्य दूसरों का वध तो एक जन्म में करता है, पर उसके फल में उस पापी का वध जन्म-जन्म में होता है। तथा वह अपना संसार बढ़ा लेता है।

-- -- --

बहुत भले काम करने पर भी यदि कभी/किसी का जाने/अनजाने दिल दुःखाया होगा, या हम से किसी का अहित हो गया होगा अथवा अपने कर्तृत्व के झूठे अभिमान में हमने पापार्जन किया होगा तो वह भी

फल दिए बिना नहीं छूटता।

अतः हमें इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखने की जरूरत है कि भूल-चूक से भी, जाने-अनजाने भी हम किसी के प्राण पीड़ित न करें। अपने जरा से स्वाद के लिए हिंसा से उत्पन्न आहार ग्रहण न करें, अपनी पूरी दिनचर्या में अहिंसक आचरण नहीं करें। अन्यथा जब पौराणिक पुरुषों की यह दशा हुई तो हमारा तो कहना ही क्या है?

विश्वदर्शन की दृष्टि में सुखी होने का मूलमंत्र क्या है? धर्म का स्वरूप तो सुखद है, फिर उसे पाने में कष्ट क्यों?

-- -- --

धर्म कष्टमय नहीं। वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त किसी धर्म विशेष या दर्शन विशेष की मात्र मानसिक उपज या किसी व्यक्ति विशेष का वैचारिक विकल्प मात्र नहीं है; बल्कि यह सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि का स्वरूप है, ऑटोमेटिक विश्वव्यवस्था है। विश्वव्यवस्था ही विश्वदर्शन है, यही जैनदर्शन है।

-- -- --

इस जगत में जितने चेतन व अचेतन पदार्थ हैं, जीव-अजीव द्रव्य हैं; वे सब पूर्ण स्वतंत्र हैं, स्वावलम्बी हैं। उनका एक-एक समय का परिणमन भी पूर्ण स्वाधीन है।

-- -- --

जो किसी न किसी रूप में ईश्वरीय कर्तृत्व में आस्था रखते हैं, यह बात उनके गले उतारना आसान नहीं है; क्योंकि जनसाधारण की जन्मजात श्रद्धा बदलना सरल नहीं होता। ईश्वरवादियों की तो बात ही दूर; जो ईश्वरवादी नहीं हैं, वे भी अनादिकालीन अज्ञान के कारण पर में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व के संस्कारों के कारण पर के कर्ता-धर्ता बने बैठे हैं। उन्हें भी यह वस्तु स्वातंत्र्य सिद्धान्त समझना टेढ़ी खीर है।

-- -- --

जनसाधारण की तो बात ही क्या है? दर्शनशास्त्र के धुरन्धर तार्किक

विद्वान भी अपने पूर्वाग्रहों के व्यामोह से इस तथ्य को स्वीकार करने में 'न च नु च' करने से नहीं चूकते और यह सत्य तथ्य समझे बिना धर्म का फल पाना तो दूर, धर्म का अंकुर भी नहीं उगता।

-- -- --

वस्तु स्वातंत्र्य एक ऐसा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि जिसके बिना धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः यदि वीतराग और स्वभावी आत्मा को पाना है तो आज नहीं तो कल कभी न कभी इस सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा।

-- -- --

प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण होते हैं - एक सामान्य और दूसरा विशेष। जो गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्यगुण कहते हैं। जैसे - अस्तित्वगुण सब द्रव्यों में पाया जाता है। अतः यह सामान्य गुण हुआ। यह वस्तुत्व गुण भी उन्हीं सामान्य गुणों में से एक गुण है तथा जो गुण सब द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। जैसे - ज्ञान, दर्शनगुण केवल आत्मा में ही होते हैं, अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व कालद्रव्य में नहीं। अतः ये जीव द्रव्य के विशेष गुण हैं। इसीतरह पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, धर्मद्रव्य में गति हेतुत्व, अधर्मद्रव्य में स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य में अवगाहन हेतुत्व और कालद्रव्य में परिणमन हेतुत्व इनके विशेष गुण हैं।

-- -- --

वैसे तो प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, सामान्य गुण भी अनेक हैं, परन्तु उनमें छह मुख्य हैं - अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व।

-- -- --

जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी भी अभाव नहीं होता, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में यह अस्तित्व गुण है, अतः प्रत्येक

द्रव्य की सत्ता स्वयं से है, उसे किसी ने बनाया नहीं और न कोई उसे मिटा सकता है; क्योंकि वह अनादि-अनन्त है।

इसी अस्तित्वगुण की अपेक्षा से ही तो द्रव्य का लक्षण सत् किया जाता है। देखो! सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। मात्रपर्याय पलटती है।

इस अस्तित्व गुण के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से जीव मृत्युभय से तो मुक्त हो ही जाता है, कर्ताबुद्धि के अगणित दोषों से भी बच जाता है।

-- -- --

जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थ क्रिया हो, प्रयोजनभूत क्रिया हो; उसे वस्तुत्वगुण कहते हैं। इस गुण की मुख्यता से ही द्रव्य को वस्तु कहते हैं। लोक में प्रत्येक वस्तु अपने-अपने प्रयोजन से युक्त है। कोई भी वस्तु अपने आप में निरर्थक नहीं है और पर के किसी भी प्रयोजन की नहीं है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के सहयोग की आवश्यकता नहीं; क्योंकि सभी वस्तुओं में अपना-अपना स्वतंत्र वस्तुत्व गुण विद्यमान है।

-- -- --

द्रव्यत्व गुण – जिसशक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहे, वह द्रव्यत्व गुण हैं। इसी की मुख्यता से वस्तुओं को द्रव्य संज्ञा प्राप्त है।

इस गुण की प्रमुख विशेषता यह है कि परद्रव्य के सहयोग की अपेक्षा बिना ही यह गुण वस्तु को स्वतंत्र रूप से निरन्तर परिणमनशील रखता है। अतः एक द्रव्य में होने वाले सतत् परिवर्तन का कारण कोई अन्य द्रव्य नहीं है। किसी भी द्रव्य को अपने परिणमन में किसी अन्य द्रव्य या गुण की आवश्यकता नहीं है।

-- -- --

प्रमेयत्वगुण – जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बने, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

आत्मा भी एक वस्तु है, उसमें भी प्रमेयत्व गुण है, अतः वह भी जाना जा सकता है। बस, थोड़ा-सा पर व पर्याय पर से उपयोग हटाकर आत्मा की ओर अन्तर्मुख करने की देर है कि समझ लो आत्मा का दर्शन हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया।

आत्मा कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, उसमें प्रमेयत्व गुण है न? जिसमें प्रमेयत्व गुण है, वह भले सूक्ष्म हो तो भी ज्ञान की पकड़ में आता ही है।

-- -- --

अगुरुलघुत्व गुण – जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एकगुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और द्रव्य में रहने वाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं होते, उसे अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।

-- -- --

जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसे प्रदेशत्वगुण कहते हैं।

-- -- --

काश। सब जीवों को इनका ऐसा यथार्थ ज्ञान हो जावे तो उनका अनन्त पराधीनता का दुःख दूर हुए बिना नहीं रहे। इसका सही ज्ञान होने पर हम परद्रव्यों के कर्तृत्व की चिन्ता से सदा के लिए मुक्त हो सकते हैं।

-- -- --

यद्यपि अपने में ऐसी कोई योग्यता नहीं है कि पर में कुछ किया जा सके; परन्तु यदि किसी की भली होनहार हो तो निमित्त तो बन ही सकते हैं; अतः भूमिका के विकल्पानुसार प्रयत्न करने में हानि भी क्या है?

-- -- --

कारक – कारक उसे कहते हैं जो प्रत्येक क्रिया के प्रति प्रयोजक हो, जो क्रिया निष्पत्ति में कार्यकारी हो, क्रिया का जनक हो; उसे कारक कहते हैं।

जो किसी न किसी रूप में क्रिया व्यापार के प्रति प्रयोजक हो, कार्यकारी हो, वही कारक हो सकता है अन्य नहीं; कारक छह होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण।

ये छहों क्रिया के प्रति किसी न किसी प्रकार प्रयोजक हैं, कार्यकारी हैं, इसकारण इन्हें कारक कहा गया है।

निज कार्य के षट्कारक निज शक्ति से निज में ही विद्यमान हैं; किन्तु मिथ्या मान्यता के कारण अज्ञानी अपने कार्य के षट्कारक पर में खोजता है। यही मिथ्या मान्यता राग-द्वेष की जनक है। अतः कारकों का परमार्थ स्वरूप एवं उनका कार्य-कारण-सम्बन्ध समझना अति आवश्यक है। अविन्प्रभाव वश जो बाह्य वस्तुओं में कारकपने का व्यवहार होता है, वह वस्तुतः अभूतार्थ है। जैसे कि - जिस परद्रव्य की उपस्थिति के बिना कार्य न हो। जैसे - घट कार्य में कुंभकार, चकर, चीवर आदि।

कर्त्ताकारक - जो स्वतंत्रता से, सावधानीपूर्वक अपने परिणाम (पर्याय) या कार्य को करे, जो क्रिया व्यापार में स्वतंत्ररूप से कार्य का प्रयोजक हो, वह कर्त्ताकारक है। प्रत्येक द्रव्य अपने में स्वतंत्र व्यापक होने से अपने ही परिणाम का स्वतंत्र रूप से कर्त्ता है।

कर्मकारक - कर्त्ता की क्रिया द्वारा ग्रहण करने के लिए जो अत्यन्त इष्ट होता है, वह कर्म कारक है। अथवा कर्त्ता जिस परिणाम (पर्याय) को प्राप्त करता है, वह परिणाम उसका कर्म है।

करणकारक - क्रिया की सिद्धि में जो साधकतम होता है, वह करण कारक है अथवा कार्य के उत्कृष्ट साधन को करण कारक कहते हैं।

सम्प्रदान - कर्म के द्वारा जो अभिप्रेत होता है, वह सम्प्रदान है या कर्म परिणाम जिसे दिया जाय अथवा जिसके लिए किया जाय वह सम्प्रदान है।

अपादान - जिसमें कर्म किया जाय वह ध्रुववस्तु अपादान कारक है।

अधिकरण - जो क्रिया का आधारभूत है, वह अधिकरणकारक है।

अथवा जिसके आधार से कर्म (कार्य) किया जाय, उसे अधिकरण कहते हैं।

सर्वद्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में छहों कारक एक साथ वर्तते हैं, इसलिए आत्मा और पुद्गल शुद्धदशा में या अशुद्धदशा में स्वयं छहों कारकरूप निरपेक्ष परिणमन करते हैं, दूसरे कारकों की अर्थात् निमित्त कारणों की अपेक्षा नहीं रखते।

निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकता का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए पर सामग्री को खोजने की आकुलता से परतंत्र हुआ जाय। अपने कार्य के लिए पर की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

--

--

--

निश्चय से विकारी पर्यायें भी अहेतुक ही हैं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपना परिणमन स्वतंत्र रूप से करता है। परन्तु विकारी पर्याय के समय निमित्त रूप हेतु का आश्रय अवश्य होता है, इसकारण व्यवहार से उसे सहेतुक कहा जाता है। परमार्थ से अन्यद्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्त्ताधर्त्ता नहीं होता, इसलिए जो चेतन के भाव हैं, उनका कर्त्ता चेतन ही होता है, जड़ नहीं।

--

--

--

इस जीव को जो अज्ञानभाव से मिथ्यात्वादि भाव रूप परिणाम हैं, वे भी चेतन हैं, जड़ नहीं। अशुद्ध निश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इसप्रकार वे परिणाम चेतन होने से उनका कर्त्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्म का कर्त्ता चेतन ही होता है - यह परमार्थ है। इतना विशेष है कि सभी कार्य निमित्त सापेक्ष होने मात्र से उन्हें व्यवहार से अहेतुक कहा जाता है।

--

--

--

कर्मों की विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग रूप विचित्रता

जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही है। जीव के परिणाम तो निमित्तरूप में मात्र उपस्थित होते हैं, वे कर्मों के कर्ता नहीं।

पुद्गल कर्म जीव को विकारी नहीं करता, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं है। हाँ, जब जीव में स्वयं की तत्समय की योग्यता से विकार होता है, तब कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है।

--

--

--

अध्यात्म में सम्बन्ध एवं संबोधन कारक नहीं होते; क्योंकि सम्बन्ध एवं सम्बोधनकारक पर से जोड़ते हैं और अध्यात्म में पर से कुछ भी संबंध नहीं होता।

--

--

--

प्रत्येक वस्तु का जितना भी स्व है, वह स्व के अस्तित्वमय है। उसमें पर के अस्तित्व का अभाव है। सजातीय या विजातीय कोई भी वस्तु अपने से भिन्न स्वरूप सत्ता रखनेवाली किसी भी अन्य वस्तु की सीमा को लांघ कर उसमें प्रवेश नहीं कर सकती; क्योंकि दोनों के बीच में अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है, जिसे भेदना संभव नहीं है।

--

--

--

प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता होकर अपना कार्य (कर्म) करता है और करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण आदि छहों कारक रूप से भी द्रव्य स्वयं निज शक्ति से परिणमित होता है। न तो द्रव्य सर्वथा कूटस्थ नित्य है और न ही सर्वथा क्षणिक है; अपितु वह अर्थ क्रिया करण शक्तिरूप है। वह अपने अन्वयरूप (गुणमय) स्वभाव के कारण एकरूप अवस्थित रहते हुए भी स्वयं उत्पाद-व्ययरूप है। और व्यतिरेक (भेदरूप या पर्यायरूप) स्वभाव के कारण सदा परिणमनशील भी है। यही वस्तु का वस्तुत्व है।

तात्पर्य यह है कि वह द्रव्यदृष्टि से ध्रुव है और पर्यायदृष्टि से उत्पाद-व्ययरूप है।

वस्तुतः उत्पाद-व्यय के बिना नहीं होता और व्यय-उत्पाद के बिना

नहीं होता एवं उत्पाद और व्यय ध्रौव्य के बिना नहीं होता एवं उत्पाद और व्यय ध्रौव्य स्वरूप अर्थ के बिना नहीं होता। यह वस्तुस्थिति है।

--

--

--

वैसे तो सभी शक्तियाँ वस्तु की स्वतंत्रता की ही साधक हैं, परन्तु कतिपय प्रमुख शक्तियाँ इसप्रकार हैं -

भावशक्ति - इस शक्ति के कारण प्रत्येक द्रव्य अन्वय (अभेद) रूप से सदा अवस्थित रहता है। यह शक्ति पर कारकों के अनुसार होने वाली क्रिया से रहित भवनमात्र है, अतः इस शक्ति द्वारा द्रव्य को पर कारकों से निरपेक्ष कहा है, इससे द्रव्य की स्वतंत्रता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

क्रियाशक्ति - इस शक्ति से प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप सिद्ध कारकों के अनुसार उत्पाद-व्ययरूप अर्थ क्रिया करता है।

कर्मशक्ति - इस शक्ति से प्राप्त होनेवाले अपने सिद्ध स्वरूप को द्रव्य स्वयं प्राप्त होता है।

कर्ताशक्ति - इस शक्ति से होनेरूप स्वतः सिद्ध भाव का यह द्रव्य भावक होता है।

करणशक्ति - इससे यह द्रव्य अपने प्राप्यमाण कर्म की सिद्धि में स्वतः साधकतम होता है।

सम्प्रदान शक्ति - इससे प्राप्यमाण कर्म स्वयं के लिए समर्पित होता है।

अपादानशक्ति - इससे उत्पाद-व्ययरूप होने पर भी द्रव्य सदा अन्वयरूप से ध्रुव बना रहता है।

अधिकरणशक्ति - इससे भव्यमात्र (होने योग्य) समस्त भावों का आधार स्वयं द्रव्य होता है।

सम्बन्धशक्ति - प्रत्येक द्रव्य में सम्बन्ध नाम की भी एक ऐसी शक्ति है, जिससे किसी भी द्रव्य का अपने से भिन्न अन्य किसी द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे यह सूचित होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है।

शलाका पुरुष भाग-१ से ~

तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि पदों के धारक प्रसिद्ध पुरुषों को शलाका पुरुष कहते हैं। इस युग में त्रेसठ शलाका पुरुष हुए जो इसप्रकार हैं - २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र। ये ६३ महापुरुष धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर अल्पकाल में ही मुक्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त ६३ के सिवाय तीर्थकरों के माता-पिता, नारद, रुद्र, कामदेव और कुलकर - इसप्रकार शलाका महापुरुषों की संख्या १६९ भी आगम में है, इनमें कुछ पुरुष ऐसे भी हैं जो दो-दो, तीन-तीन पदों के धारक हैं; तीर्थकरों में कामदेव भी हैं, चक्रवर्ती भी हैं। इसप्रकार इस काल में ६३ शलाका पुरुषों की संख्या ५८ ही रह गई है।

राज्यशासन और गृह में रचे-पचे रहना दुःख का ही मूल है। यह यौवन क्षणभंगुर है और ये पंचेन्द्रिय के भोग बारम्बार भोगने पर भी तृप्ति नहीं देते। इनसे तृप्ति होना तो दूर ही रहा, ये तो तृष्णा की ज्वाला में जलाते हैं। यह शरीर भी व्याधि का घर और नश्वर है। ये बन्धुजन बन्धन ही हैं। धन दुःख देनेवाला है; क्योंकि लक्ष्मी अति चंचल है, सम्पदायें वस्तुतः विपदायें ही हैं; अतः इन्हें यथासंभव शीघ्र छोड़ ही देना चाहिए।

प्रश्न - पुराणों में भोगप्रधान जीवन जीने वाले राजा-महाराजाओं एवं युद्ध आदि की विषयवस्तु पढ़ने से यह आशंका स्वाभाविक है कि ये कथायें तो स्पष्ट विकथायें हैं; फिर इन्हें धर्मकथाओं में सम्मिलित क्यों किया गया है?

उत्तर - वस्तुतः कथानकों के रूप में लिखे गये प्रथमानुयोग के शास्त्रों का प्रयोजन पुण्योदय से प्राप्त भोगों को असार, आकुलताजनित बताना है

एवं उनके सेवन को पाप का कारण बताकर पापों से छुड़ाना है। इस कारण ये कथायें विकथायें नहीं हैं।

मरने के बाद भी भूत-प्रेत के रूप में भटकती आत्माओं का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि भविष्य में भी ये जीवात्मायें अपने पुण्य-पाप के अनुसार ही चौरासी लाख योनियों में भटकते हैं और मोक्षमार्ग मिल जाये तो मुक्त भी हो जाते हैं, यही जीव का परलोक कहलाता है। इसके सिवाय जातिस्मरण से, जीवन-मरणरूप आवागमन से और आप्तप्रणीत आगम से भी जीव का अनादि-अनन्त अस्तित्व सिद्ध होता है।

जब तक विषयों में सुखबुद्धि रहेगी तब तक विषयासक्ति छोड़ना संभव नहीं है। अतः तत्त्वज्ञान के यथार्थज्ञान से सर्वप्रथम, इस सत्य को समझना आवश्यक है कि - 'संयोगों में सुख है ही नहीं'।

कषायों और पंचेन्द्रिय के विषयों के साथ भोजन का त्याग ही उपवास है। यदि यह नहीं है तो केवल आहार का त्याग तो लंघन ही है। आचार्यों ने कहा है -

**‘कषायाविषयाहारो त्यागो यत्र विधियते ।
उपवासः सः विज्ञेया, शेषं लंघनकम विदुः ॥’**

भोगों से कभी किसी को संतोष नहीं होता। वस्तुतः हम भोगों को नहीं भोगते; बल्कि हमारे बहुमूल्य जीवन को ये भोग ही भोग लेते हैं अर्थात् भोगों का तो कोई अन्त नहीं होता, हमारा ही अन्त हो जाता है।

जिस सम्पदा पर एवं भोगोपभोगों की सुखद सामग्री पर हम गर्व करते हैं, वह सब इन शरद ऋतु के बादलों की भाँति क्षणभर में विलीन होने वाले हैं, नष्ट होनेवाले हैं। यह लक्ष्मी बिजली के समान चंचल एवं क्षणभंगुर है।

पुण्योदय से प्राप्त ये भोग जो प्रारंभ में अच्छे लगते हैं, पाप का उदय आने पर ये भारी संताप देते हैं। यह आयु भी अंजुली के जल के समान प्रत्येक पल में क्षीण होती जा रही है। ये रूप आरोग्यता, ऐश्वर्य, प्रिय बन्धु-बान्धवों एवं प्रिय स्त्री का प्रेम सब क्षणभंगुर हैं।

-- -- --

संसार में जन्म-मरण आदि किसके नहीं होते? स्वर्ग से च्युत होना बहुत साधारण बात है; क्योंकि यह स्वर्ग का वैभव तो पुण्य का फल है जो पुण्य क्षीण होने पर छोड़ना ही पड़ता है। जिस स्वर्ग सुख के लिए अज्ञानी लालायित रहता है, उस स्वर्ग की अवधि समाप्त होते ही वे सब भोग आदि के सुख तीव्र दुःख में परिवर्तित हो जाते हैं।

-- -- --

यदि दो महत्त्वपूर्ण कार्य करने के समाचार एक साथ मिलें तो सर्वप्रथम धर्मकार्य ही करना चाहिए।

-- -- --

जिन भोगों को हम सुख के साधन समझते हैं, वे मूलतः पापभाव होने से आगामी काल में दुःख के कारण तो होते ही हैं; कभी-कभी वर्तमान में भी प्राणघातक बन जाते हैं।

-- -- --

नरकों के सिवाय संसारी जीव जिस पर्याय में जाता है, उसे छोड़ने में उसे दुःख होता ही है। भावी तीर्थों का जीव ललितांग देव यद्यपि मनुष्यपर्याय में आनेवाला था, तो भी वह दुःखी हुआ। उसकी दीनता देखकर उसके सेवक भी उदास हो गये। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो पूरे जीवन भर के सुख, दुःख बनकर आ गये हों।

-- -- --

देशनालब्धि आदि बहिरंग कारण और करणलब्धि रूप अंतरंग कारण द्वारा भव्यजीव दर्शन विशुद्धि प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञकथित छह द्रव्य, साततत्त्व

और लोक की अनादिनिधन स्वतंत्र-स्वसंचालित विश्वव्यवस्था समझना और इन पर श्रद्धान करना ही दर्शनविशुद्धि है, सम्यग्दर्शन है।

-- -- --

यह सम्यग्दर्शन ही सर्व सुखों का साधन है। इस संसार में वही पुरुष श्रेष्ठ है, वही कृतार्थ है, उसी का जीवन धन्य है, जिसके हृदय में निर्दोष समकित सूर्य प्रकाशमान है। यह समकित (सम्यक्दर्शन) दुर्गति को रोकने वाला है, यही स्वर्ग का सोपान और मोक्ष महल का द्वार है।

-- -- --

सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव स्त्री पर्याय में, नीचे के छह नरकों में, भवनवासी, व्यंतर आदि नीचे देवों में उत्पन्न नहीं होता।

लोक में १. सज्जाति २. सद्गृहस्थता (श्रावक के व्रत) ३. पारिवाज्य (मुनियों के व्रत) ४. सुरेन्द्र पद ५. चक्रवर्ती पद ६. अरहंत पद ७. सिद्धपद - ये जो सात परमस्थान हैं, उत्कृष्ट स्थान हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ही क्रम-क्रम से इन परमस्थानों को प्राप्त होता है।

-- -- --

यह निर्विवादरूप से सत्य है कि वीतराग धर्म से सुख की प्राप्ति होती है और मिथ्यात्व रूप अधर्म सेवन से दुःख मिलता है। इसलिए बुद्धिमान जीव पाप बुद्धि और मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर वीतराग धर्म में तत्पर होते हैं। पाप का फल अत्यन्त कटु होता है। नरक-निगोद में पड़े जीव को एक पल की भी शान्ति नहीं मिलती।

-- -- --

जो व्यक्ति पाँचों पापों में एवं सात व्यसनों में संलग्न है। धर्म के सही स्वरूप को न पहिचान कर मिथ्यामार्ग पर चलता है, क्रूर है, रौद्रध्यानी है, विषयों का सेवन करके एवं पापकार्यों को करके प्रसन्न होता है, अति आरंभ करता है और परिग्रह संग्रह में तत्पर रहता है - वह नियम से नरक गति में जाकर दिन-रात असह्य दुःख का वेदन करता है।

-- -- --

रत्नत्रय धर्म में तथा उसके फल में प्राप्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति में प्रतीति करके उत्साहपूर्वक रत्नत्रय की साधना-आराधना करना संवेग है तथा शरीर, भोग और संसार के प्रति विरक्त परिणाम निर्वेद है।

-- -- --

१. पर-स्त्रियों के समागम में अधिक देर एकान्त में न रहना। २. पर-स्त्रियों को रागभरी दृष्टि से न देखना। ३. पर-स्त्रियों से परोक्ष में गुप्त पत्राचार और फोन आदि पर वार्ता न करना। ४. पूर्व में भोगे भोगों को स्मरण नहीं करना। ५. कामोत्तेजक गरिष्ठ भोजन नहीं करना। ६. कामोत्तेजक शृंगार नहीं करना। ७. पर-स्त्रियों के आसन, पलंग आदि पर नहीं बैठना न सोना। ८. कामोत्तेजक, कथा, गीत आदि नहीं सुनना। ९. भूख से अधिक भोजन नहीं करना। इनका उल्लंघन करने से अपने सदाचार और संयम का घात होता है। बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, लोक में अपयश होता है।

-- -- --

स्वर्ग के इन्द्र देव यद्यपि सबप्रकार से सुख सम्पन्न, महाधैर्यवान, बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक और वैभव से सम्पन्न होते हैं, तथापि उन्हें भी वह छोड़ना ही पड़ता है। इसलिए संसार और संयोगों की ऐसी क्षणभंगुरता जानकर पुनरागम रहित मुक्ति की साधना में ही आत्मार्थियों को अपना उपयोग लगाना चाहिए।

-- -- --

जिनके विषयों की आशा समूल समाप्त हो गई है, जो हिंसोत्पादक आरंभ और परिग्रह से सर्वथा दूर रहते हैं तथा ज्ञान-ध्यान व तप में लीन रहते हुए निरन्तर निज स्वभाव को साधते हैं, वे साधु हैं।

-- -- --

वीतरागी मुनिराज सदा त्रिकाल सामायिक, स्तुति, वंदना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कार्योंत्सर्ग करते हैं। उनकी ये क्रियायें प्रतिदिन अवश्य करने योग्य हैं अतः आवश्यक कहलाती है; किन्तु मुनिराज इन्हें सहजता एवं स्वाधीनता से करते हैं। उन्हें ये खेंचकर नहीं करनी पड़ती।

-- -- --

जैनदर्शन की दार्शनिक व्याख्या के अनुसार अथवा शास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्ग्रन्थ साधु की निर्मल परिणति में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों का अभाव हो जाता है; इसकारण निर्ग्रन्थ मुनिराजों को इस भूमिका में वस्त्र धारण करने का भाव ही नहीं आता। अतः वे नग्न रहते हैं।

-- -- --

दिगम्बर जैन साधुओं की निर्ग्रन्थता, निर्दोषता, निर्विकारिता, निर्वेक्षता, निर्भयता, निश्चितता और सहज स्वाभाविकता की परिचायक है।

-- -- --

दिगम्बरत्व की स्वाभाविकता, सहजता और निर्विकारिता के साथ उसकी नग्नता की अनिवार्यता से अपरिचित कतिपय महानुभावों को मुनिराज की नग्नता में जो असभ्यता व असामाजिकता दृष्टिगोचर होती है, वह उनके स्वयं की समझ और सोच का फेर है। ऐसे लोग समय-समय पर नग्नता जैसे सर्वोत्कृष्ट रूप से नाक-भौं सिकोड़ते रहते हैं, घृणा का भाव भी व्यक्त करते रहते हैं। उन्हें एक बार नग्नता को निर्विकारी दृष्टि से देखना चाहिए। अन्य दर्शनों में भी नग्नता को ही साधु का उत्कृष्ट रूप माना गया है। परमहंस नामक परमत के साधु भी नग्न रहते हैं।

-- -- --

इतिहास एवं इतिहासातीत श्रमण एवं वैष्णव साहित्य में यहाँ तक कहा गया है कि दिगम्बर हुए बिना मोक्ष की साधना एवं कैवल्य प्राप्ति संभव नहीं है। अतः नग्नता से नफरत करना, घृणा करना अपने ही धर्म, संस्कृति, पुरातत्त्व एवं सत्य से घृणा करना है।

सचमुच मोक्ष का सुख तो अनुपम है, उससे संसार के किसी भी सुख की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह सम्पूर्ण इच्छा के अभाव में है।

-- -- --

जितनी इच्छायें कम होंगी, उतना ही निराकुल सच्चा सुख अधिक होगा। भोग-सामग्री सुख का साधन नहीं है। अतः यदि हम सचमुच सच्चा

सुख चाहते हैं तो सम्पूर्ण संसार को असार जानकर मुक्ति की साधना करनी होगी।

-- -- --

यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य और वास्तविक तथ्य है कि जब कोई बड़ा काम होता है तो पहले वह हमारे सपने में अवतरित होता है, बाद में भौतिक रूप से साकार रूप लेता है। यही कारण है कि तीर्थकरों के जन्म के पूर्व उनकी माता को १६ शुभ स्वप्न आते हैं।

-- -- --

विद्या ही सच्चा भाई है, विद्या ही सच्चा मित्र है और विद्या ही सदा साथ रहने वाले धर्मज्ञान का साधन है। इसे चोर चुरा नहीं सकते, राजा हड़प नहीं सकते। भाई बाँट नहीं सकते, यह खर्च करने पर घटती नहीं; बल्कि दूसरों को बांटने पर बढ़ती है अतः विद्या धन सब धनों में प्रधान है। और हाँ, सर्वविद्याओं में अध्यात्म विद्या का तो कहना ही क्या है? वह तो सर्वश्रेष्ठ है ही। इससे सर्व मनोरथ पूर्ण होते हैं। अतः अध्यात्म विद्या का अर्जन करना सर्वोत्तम है।

-- -- --

अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी मात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा को त्यागने योग्य मानते हुए भी गृहस्थ की भूमिका में त्याग संभव नहीं होता, क्योंकि जबतक कषायों की तीन चौकड़ी विद्यमान होती है तबतक आरंभ और उद्योग में हिंसा होती ही है; पर उसका उसमें उद्देश्य हिंसा करना नहीं, बल्कि प्रजा का संरक्षण, पालन-पोषण और आजीविका देना होता है।

-- -- --

संयोगों और संयोगी भावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक-सी ही है। अतः संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है। ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगी भावों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

-- -- --

आठ प्रकार के लोकान्तिकदेव अपने पूर्व भव में श्रुतकेवली होते हैं, वे एक भवावतारी होते हैं, उनके लोक का अन्त आ गया, इसकारण उन्हें लोकान्तिक कहते हैं।

-- -- --

तीर्थकर स्वयं दीक्षित होते हैं, उनका कोई गुरु नहीं होता। वे किसी से दीक्षा लेते भी नहीं और किसी को देते भी नहीं है। वे स्वयं दीक्षा लेकर जीवनभर को मौनधारण कर लेते हैं। वे किसी को साथ नहीं रखते। वे तो एकल विहारी ही होते हैं।

-- -- --

पाँच पापों के त्यागरूप पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपक एवं प्रतिष्ठापना रूप पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक, केशलुंच, भूमिशयन, नग्नता, अदन्तधोवन, अस्नान दिन में एक बार खड़े-खड़े अल्प आहार लेना और एक करवट से रात्रि के पिछले प्रहर में श्वानवत् निद्रा लेना - ये २८ मूलगुण हैं वे इनका निरति चार (निर्दोष) रूप से पालन करते हैं तथा नंगे पाल पैदल ही चलते हैं।

-- -- --

यथार्थ में मनुष्य के द्वारा सत्कर्मों से उपार्जित पुण्य ही जगत में सुखद संयोग देने वाला है।

-- -- --

वात-पित्त-कफ आदि दोषों को दूर करने के लिए उपवास (भोजन का त्याग) करते हैं तथा प्राणधारण के लिए शुद्ध एवं विधिवत आहार भी ग्रहण करते हैं।

परमाणु आदि सूक्ष्म हैं, राम आदि अन्तरित अर्थात् काल से दूर हैं और मेरू पर्वत आदि क्षेत्र से दूर हैं - उन सभी को केवलज्ञान स्पष्ट जानता है। केवली भगवान किसी पदार्थ को जानने के लिए उसके पास नहीं जाते और पदार्थ को जानने के लिए उसके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते; फिर भी सभी पदार्थ बिना यत्न के ही दर्पणवत् प्रतिसमय

उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं। न तो पदार्थों के परिणमन से उनका केवलज्ञान प्रभावित होता है और न उनके केवलज्ञान पदार्थ से प्रभावित होते हैं – दोनों अपने में पूर्ण स्वाधीन रहकर जानते हैं और जानने में आते हैं। दोनों में मात्र ज्ञायक-ज्ञेय संबंध हैं, अन्य कुछ भी संबंध नहीं है।

-- -- --

प्रत्येक पदार्थ का किस समय कैसा/क्या परिणमन होगा – यह सब सुनिश्चित ही है और केवली उसे उसी रूप में स्पष्ट जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो ऋषभदेव ने यह कैसे बता दिया कि यह मरीचि ही एक कोड़ाकोड़ी वर्ष बाद इसी भरतक्षेत्र का २४वाँ तीर्थंकर महावीर होगा?

-- -- --

सर्वज्ञता का स्वरूप जानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है; क्योंकि सर्वज्ञता धर्म का मूल है। सच्चे देव के स्वरूप में सर्वज्ञता शामिल है। जो वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हो, वही सच्चा देव है। सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को समझना भी संभव नहीं है। और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी जो नहीं जानता, उसके तो व्यवहार सम्यग्दर्शन का भी ठिकाना नहीं, उसे धर्म कहाँ से/कैसे होगा?

-- -- --

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि दिन में तीन बार खिरती थी और प्रत्येक बार का समय ६ घड़ी होता था। एक घड़ी २४ मिनट की होती है। इसप्रकार कुल मिलाकर ७ घंटे १२ मिनट प्रतिदिन उनकी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती थी।

-- -- --

जहाँ से भी दिव्यध्वनि का सार सुनने को मिले, वहाँ से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिसप्रकार साक्षात् जिनेन्द्र के दर्शन न मिलने पर हम उनकी मूर्ति के दर्शन से ही उनकी पूर्ति कर लेते हैं, वैसे ही साक्षात् दिव्यध्वनि श्रवण के अभाव में उसी परम्परा में आचार्यों द्वारा लिखित जिनवाणी से लाभ लेना ही एकमात्र उपाय है।

-- -- --

मुक्त होने का अर्थ है दुःखों से, विकारों से, कर्म बन्धनों से मुक्त होना। इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष आत्मा की अनन्त आनन्दमय दशा, अतीन्द्रिय सुख एवं अतीन्द्रिय ज्ञानमय दशा है। भव्यजीवों का यह मोक्ष ही अन्तिम साध्य है। सम्पूर्ण धर्म आराधना इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु ही होती है।

-- -- --

साधुओं के दो भेद हैं १. जिनकल्पी, २. स्थविरकल्पी। जो मुख्यतया आत्मचिन्तन में लीन रहते रहें, उपदेश आदि प्रवृत्ति न करें; उन्हें जिनकल्पी साधु कहते हैं और जो साधु संघ के साथ रहें, उपदेश दें, दीक्षा दें, उन्हें स्थविरकल्पी कहते हैं। तीर्थंकर मुनिराज जिनकल्पी होते हैं, अतः मुनि होते ही आजीवन मौन ले लेते हैं। मुनि अवस्था में उपदेश नहीं करते। केवली होने से उनकी दिव्यध्वनि मुख से नहीं; बल्कि सर्वांग से निरक्षरी अर्थात् ॐ के रूप में एकाक्षरी निकलती है।

-- -- --

ध्यान का स्वरूप – तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में चित्त का निरोध ध्यान है। वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहनन वालों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। वस्तु स्वरूप के चिन्तन में चित्त की चंचल तरंगों को अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं।

-- -- --

आत्मा जिस परिणाम से पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करते हुए साम्यभाव को प्राप्त करता है, उस परिणाम को धर्मध्यान कहते हैं अथवा आत्मा का जो परिणाम पदार्थों का चिन्तन कर राग-द्वेष कम करता है उस परिणाम को ध्यान कहते हैं।

-- -- --

पाँचों इन्द्रियों और मन के माध्यम से विषयभोगों में विकेंद्रित ज्ञान की किरणों को वहाँ से समेट कर ज्ञायक स्वभावी आत्मा पर केन्द्रित करना ही धर्मध्यान है।

तात्पर्य यह है कि धर्मध्यान में उदासीन रूप से समस्त पदार्थों के

स्वरूप का चिन्तन किया जा सकता है; क्योंकि तत्त्व का चिन्तन ध्यान करनेवाले जीव के उपयोग की विशुद्धि के लिए होता है।

-- -- --
आर्तध्यान – जो ऋतु अर्थात् दुःख में हो वह आर्तध्यान है। यह चार प्रकार का है – पहला – इष्ट वस्तु के न मिलने से या इष्ट वस्तु के वियोग हो जाने से जो दुःख का चिन्तन चलता है वह पहला आर्तध्यान है। दूसरा – अनिष्ट वस्तु के मिलने से जो दुःखद क्लेश रूप भाव होते हैं, वह आर्तध्यान है। तीसरा – आर्तध्यान रोग आदि होने के कारण हुई पीड़ा चिन्तन से होता है तथा चौथा – निदान ध्यान भोगों की आकांक्षा से हुए संक्लेश परिणामों से होता है। यह ध्यान दूसरे पुरुषों की भोगोपभोग सामग्री देखने से भी होता है। इसका फल तिर्यचगति में जाना है।

-- -- --
 परिग्रह में अति आसक्ति, कुशीलरूप प्रवृत्ति, कृपणता, अत्यन्त लोभी, भय, उद्वेग, अतिशोक – ये आर्तध्यान के चिह्न हैं। इसीप्रकार कपोलों पर रखकर पश्चात्ताप की मुद्रा, आंसु बहाना आदि भी आर्तध्यान के बाह्य चिह्न हैं।

रौद्रध्यान – जो पुरुष प्राणियों को रुलाकर खुश होता है, वह रुद्र अथवा क्रूर निर्दय कहलाता है। ऐसे जीवों को जो ध्यान होता है, वह रौद्रध्यान कहलाता है। यह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है। १. हिंसानन्दी अर्थात् हिंसा में आनन्द मानना। २. मृषानन्दी अर्थात् झूठ बोलने में आनन्द मानना। ३. स्तेयानन्दी अर्थात् चोरी में आनन्द मानना और परिग्रहानन्दी अर्थात् परिग्रह की रक्षा में, उसे जोड़ने में दिन-रात लगे रहकर आनन्द मानना।

क्रूर होना, हथियार रखना, हिंसा की कथा – वार्ता में मजा लेना, स्वभाव से ही हिंसक होना – हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिह्न हैं।

भौंह टेड़ी हो जाना, मुख का विकृत हो जाना, पसीना आने लगना,

शरीर काँपने लगना, नेत्रों का लाल हो जाना आदि रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न हैं।

-- -- --
 अध्यात्मतत्त्वों का चिन्तन करने रूप धर्मध्यान हमें करने योग्य हैं। सात तत्त्वों, नौ-पदार्थों एवं छह द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन – ये सब धर्मध्यान के अन्तर्गत आते हैं, अतः इनका ध्यान भी करने योग्य हैं, नय, प्रमाण, निक्षेप, सप्तभंगी और स्याद्वाद वाणी द्वारा सिद्धान्त शास्त्रों की सम्पूर्ण विषयवस्तु भी ध्यान करने योग्य ध्येय हैं।

-- -- --
 जगत के समस्त पदार्थ शब्द, अर्थ और ज्ञान – इन तीन भेदों में समाहित हैं। इसलिए शब्द, अर्थ और ज्ञान को अपने ध्यान का ध्येय बनाने पर जगत के समस्त पदार्थ ध्येय हो जाते हैं। इनमें कौन से ध्येय उपादेय हैं, इसका निर्णय हमें स्वविवेक से करना है, जो धर्मध्यान के ध्येय हैं, वे उपादेय हैं और जो आर्त-रौद्रध्यान के ध्येय हैं, वे सब हेय हैं।

धर्मध्यान के चार भेद – एक – आज्ञाविचय, दूसरा – अपायविचय, तीसरा – विपाकविचय और चौथा – संस्थान विचय।

शास्त्र के अर्थ खोजना, शीलव्रत पालना, गुणानुराग रखना, प्रमाद और कषायें कृश करना आदि जिसे अन्य लोग भी अनुमान से जान सकें, उसे बाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जिसे केवल अपना आत्मा और सर्वज्ञदेव ही जान सके, वह आभ्यन्तर निश्चय धर्मध्यान है।

ये सभी धर्मध्यान सामूहिक स्वाध्याय के रूप में, तत्त्वगोष्ठी के रूप में, वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के भेदों के रूप में, बारह भावना के चिन्तन के रूप में, सामायिक के रूप में, उठते-बैठते, चलते-फिरते तत्त्व विचार करने आदि अनेक रूपों में हो सकते हैं।

-- -- --
योग-प्राणायाम और ध्यान – वर्तमान में शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान पद्धति के अनुसार सामान्य ध्यान के तीन आयाम हैं – शारीरिक,

मानसिक और आध्यात्मिक। शरीर विज्ञान के अनुसंधान के अनुसार ध्यान का प्रथम प्रभाव शरीर तंत्र पर पड़ता है; इससे रक्त संचार, हृदय स्पन्दन, ग्रन्थियों का रक्तस्राव और मनोभावना भी प्रभावित होती है। अन्य शारीरिक क्रियाओं के समान मन की एकाग्रता रूप ध्यान से भी मस्तिष्क की तरंगों में परिवर्तन आता है।

-- -- --

इसमें भी सन्देह नहीं है कि यह योगसाधना और तत्संबंधी ध्यान की प्रक्रिया शारीरिक स्वास्थ्य लाभ एवं मानसिक तनावों से छुटकारा पाने के लिए प्राकृतिक नियमों की निकटवर्ती होने से अन्य उपचारों की तुलना में सर्वोत्तम है। स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से तो इसकी उपयोगिता असंदिग्ध ही है; परन्तु ध्यान रहे, इस योग और प्राणायाम के द्वारा शरीर के अंग-अंग का ध्यान करने से आत्मा का हित नहीं होता।

-- -- --

निश्चयतः धर्मध्यान आत्मा की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में साधक अपने ज्ञानोपयोग को इन्द्रियों के विषयों व मन के विकल्पों से, पर-पदार्थों से एवं अपनी मलिन पर्यायों पर से हटाकर अखण्ड, अभेद, चिन्मात्र ज्योति स्वरूप भगवान आत्मा पर केन्द्रित करता है, अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा पर स्थिर करता है। बस, इसे ही निश्चय से धर्मध्यान कहा जाता है। वर्तमान योग साधना और ध्यान शिविरों में इस ध्यान की तो चर्चा ही नहीं होती। अतः शब्दों की समानता से भ्रमित नहीं होना चाहिए।

-- -- --

प्रत्याहार – इन्द्रियों और मन के विषयों से अपने उपयोग को खींचकर, इच्छानुसार जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लगाने की प्रक्रिया को प्रत्याहार कहते हैं। ऐसा प्रत्याहार करनेवाला ज्ञानी साधक पाँचों इन्द्रियों एवं मन के विषयों से अपने ज्ञानोपयोग को (मन को) पृथक् करके आकुलता से रहित होता हुआ आत्मस्थ होता है।

-- -- --

प्रत्येक प्राणी की अन्तिम इन्द्रिय बहुत तेज होती है, इस सिद्धान्त के अनुसार एक तो साधारण मनुष्य की कर्णेन्द्रिय स्वाभाविक तेज होती है; फिर चक्रवर्ती की तो बात ही जुदी है। भरतजी की तो चक्षु इन्द्रिय इतनी तेज थी कि वे अयोध्या के राजमहल से पूर्व दिशा में उगते सूर्य विमान के अन्दर विराजमान जिन प्रतिमा के दर्शन कर लेते थे। यही वास्तविक सूर्य नमस्कार है।

-- -- --

जीतकर भी राज्यसत्ता से मुँह मोड़ने में जैसी निस्पृहता की भावाभिव्यक्ति होती है, वैसी विजित होने पर नहीं होती। उस स्थिति में तो मजबूरी प्रतीत होती है। बाहुबली का त्याग मजबूरी का नहीं, अपितु वैराग्य का प्रतीक था। उनका त्याग असीम आत्मबल का प्रतीक था, स्वाभिमान और धीरोदात्तता का प्रतिफल था।

-- -- --

यह महत्वाकांक्षी व्यक्ति राज्य सत्ता के लिए भोगोपभोग के सुख-साधन सभी कुछ छोड़ देता है; परन्तु यह भोला प्राणी अपने हित के लिए भी उन्हें नहीं छोड़ पाते। अहा! विषयों में आसक्त हुए पुरुष इन विषयजनित सुखों की क्षण भंगुरता एवं इनके कारण होने वाली कुगति के विषय में नहीं सोचते। यद्यपि ये विषय प्रारंभ में मनोहर मालूम होते हैं, किन्तु फल काल में कड़वे (दुःखद) जान पड़ते हैं।

-- -- --

जिन अनैतिक विषयों के वश में पड़ा हुआ प्राणी अनेक दुःख की परम्परा को प्राप्त होते हैं, उन विषयों के समान भयंकर विषयों को कौन बुद्धिमान पुरुष प्राप्त करना चाहेगा। अरे! विषयों के खाने से तो एक बार ही मरण होता है, परन्तु इन अनैतिक विषयों के सेवन से तो अनन्तभवों में दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः ये विकल्प तो विषयों से भी बुरे हैं।

ये खोटे विषय प्राणियों को जैसा उद्वेग (भयंकर दुःख) उत्पन्न करते हैं, वैसा उद्वेग (दुःख) शस्त्रों के प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र की चोट और

विषधर काले नाग भी नहीं कर सकते। अनैतिक भोगों की इच्छा वाले लोभी पुरुष धन पाने की इच्छा से बड़े-बड़े समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, गहरी और तीव्र वेग से बहती नदी और ऊँचे जंगली हिंसक प्राणियों वाले पर्वतों पर चढ़कर अपने प्राणों की परवाह किए बिना प्रवृत्ति करते हैं।

-- -- --

विषयों की चाह वाले प्राणी की मूर्खता का कहाँ तक बखान करें। वे प्राणी जलचर हिंसक मगरमच्छ से संयुक्त समुद्रों को पार करते हुए दूर-देशों में जाते हैं। भोगों से लुभाये हुए पुरुष चारों ओर से आपदाओं से घिरकर मृत्यु की परवाह किये बिना युद्ध आदि के लिए तत्पर रहते हैं। मरने की कीमत पर भी भोग और यश पाने का प्रयत्न करते हैं।

-- -- --

जिस पाप क्रिया को रोक पाना संभव न हो, उस असमर्थता को अशक्यानुष्ठान कहते हैं। जैसे भोजन के चौके में कुत्ता, बिल्ली, चूहा और मक्खी एक जैसे माँसाहारी और गंदगी पसन्द प्राणी, एक जैसी अशुद्धि फैलाते हैं, फिर भी कुत्ते को जाली का आधा फाटक लगाकर रोका जा सकता है, अतः उसके चौके में प्रवेश मात्र से चौके की अशुद्धि मानी जाती है और उस भोजन सामग्री को हटाकर पुनः बनाई जाती है। बिल्ली को फाटक से नहीं रोक सकते, वह खिड़की आदि के रास्ते से भी आ जाती है, वह दूध को जूठा करेगी तो दूध फैकेंगे, सब सामग्री नहीं और चूहा मोरी आदि किसी भी रास्ते से, कहीं से भी आ सकता है अतः यदि वह आटे को जूठा करेगा तो आटे के उस हिस्से को नोंचकर फैकेंगे, पूरा आटा नहीं। मक्खी के आटे पर बैठने पर आटा नोंचते भी नहीं, मात्र मक्खी को उड़ा देते हैं। घी के पीपे में मक्खी मर भी जाये तो घी से भरा पूरा पीपा नहीं, मात्र मक्खी ही निकाल कर फैकी जाती है, बस इसी मजबूरी का नाम अशक्यानुष्ठान है। इसमें जिसप्रकार की अशुद्धि का त्याग करना गृहस्थ से संभव नहीं है, वह अशक्यानुष्ठान है।

-- -- --

सभी स्वामियों को ज्ञातव्य हो कि उन्हें अपने सेवकों से कैसा व्यवहार करना चाहिए। १. कठोर दण्ड देने वाला या कठोर व्यवहार करने वाला स्वामी अपने सेवकों को उद्विग्न कर देता है, उसकी उद्विग्नता स्वामी के प्रति श्रद्धा और सेवा की भावना को कम कर देती है, सेवक को उदर पोषण के लिए सेवा कार्य करना तो उसकी मजबूरी है, पर स्वामी के रूखे या कठोर व्यवहार से वह काम उसे भारभूत लगने लगता है, इसकारण काम बिगाड़ने की संभावना तो बढ़ ही जाती है। परस्पर संबंधों में भी कटुता आ जाती है, जो दोनों के लिए अहितकर है। २. स्वामी को चाहिए कि वह अपने अस्वस्थ सेवक को उचित औषधि दिलाकर उसके दुःख को दूर कर उसकी श्रद्धा का पात्र बने। ३. सेवक की दरिद्रता को भी स्वामी द्वारा सहानुभूतिपूर्वक दूर करना चाहिए। इससे सेवक की स्वामी के प्रति समर्पण की भावना बलवती होती है। ४. स्वामी को चाहिए कि वह सेवक के काम से प्रसन्न होकर उसे समय-समय पर पुरस्कार भी देवें। जो स्वामी सेवक के अच्छे काम की प्रशंसा करते हैं, उन्हें प्रोत्साहित करते हैं, भृत्य उनपर सदा अनुरक्त रहते हैं और कभी भी उनका साथ नहीं छोड़ते।

-- -- --

लोक एक होने पर भी इसके तीन विभाग हैं। १. ऊर्ध्वलोक, भू-मध्यलोक एवं ३. अधोलोक। नीचे अधोलोक में सात नरक हैं। नरकों में पापी जीव अपने पूर्व किए पापों के फल स्वरूप अत्यधिक दुःख भोगते हैं।

-- -- --

मध्यलोक में सुमेरू पर्वत के चारों ओर घिरे हुए अनेक द्वीप-समुद्र हैं। सुमेरू गिरी के ऊपर अनेक स्वर्ग विभाग हैं। स्वर्गों के ऊपर मुक्ति स्थान (सिद्धशिला) है, सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। अधोलोक सात राजू, मध्यलोक एक राजू। सुमेरू से ऊपर कल्पवासी विमानों तक ऊर्ध्वलोक पाँच राजू और ऊपर एक राजू प्रमाण में विभाजित हैं।

-- -- --

जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राणों के साथ जीवित

था, जीवित है और जीवित रहेगा; उसे जीव कहते हैं अर्थात् जीव अनादि अनन्त है, अमर है। न उसे किसी ने जीवित किया है और न कोई उसे मार सकेगा - ऐसी श्रद्धा से मृत्युभय नहीं रहता। इन प्राणों में पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास हैं। जीवों को अपने पाप-पुण्य के अनुसार पूर्ण या अपूर्ण प्राप्त होते हैं। एकेन्द्रिय के मात्र चार प्राण होते हैं। एक स्पर्शन इन्द्रिय, एक कायबल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास। दो इन्द्रिय जीव के रसना इन्द्रिय और वचन बल बढ़कर छह प्राण हो जाते हैं, तीन इन्द्रिय जीव के घ्राण इन्द्रिय बढ़ जाने से सात प्राण होते हैं और चार इन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय बढ़ने से आठ प्राण होते हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पाँचों इन्द्रियाँ तो होती है; किन्तु मन नहीं होता, अतः नौ प्राण होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय को मन सहित दसों प्राण होते हैं।

जब तक मन नहीं है, तब तक तो मात्र कर्मफल चेतना अर्थात् मात्र पूर्वोपार्जित कर्मों के फल भोगने की ही मुख्यता होती है, अतः यहाँ तक तो धर्म का पुरुषार्थ करना संभव ही नहीं है। जिन्हें मन मिल भी गया और छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि के सुनने, समझने और श्रद्धा करने का सौभाग्य नहीं मिला तो कर्म चेतना और कर्मफल चेतना में ही जीवन चला गया। ज्ञानचेतना की जागृति नहीं हुई तो वह भव भी मुफ्त में चला गया। अतः जीवादि का स्वरूप समझकर मनुष्यभव सार्थक करना है।

आत्मा का हित निराकुल सुख है, वह आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त होता है; परन्तु यह जीव अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूलकर मोह-राग-द्वेष रूप विकारी भावों को करता है, अतः दुःखी है।

जब तक आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर स्वयं मोह-राग-द्वेष रूप विकारी परिणमन करता है, तब आत्मा दुःखी होता है, उस दुःख में कर्मों

का उदय निमित्त कहा जाता है। कर्म थोड़े ही आत्मा को दुःख देते हैं या बलात विकार कराते हैं।

परपदार्थ तो इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं; परन्तु यह जीव पूर्वोपार्जित राग-द्वेषरूप भावकर्म के कारण उन पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर पुनः नवीन मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन करता है, यही इसकी भूल है।

जो जीव के अनुजीवी अर्थात् भावस्वरूपी गुणों का घात करने में निमित्त हों वे घाति कर्म हैं और आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न हों उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं।

जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभाव का घात करता है अर्थात् ज्ञानशक्ति को व्यक्त नहीं करता तब आत्मा के ज्ञानगुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं और जब आत्मा स्वयं अपने दर्शन-गुण का घात करता है तब दर्शन-गुण के घात में जिस कर्म का उदयनिमित्त हो उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय और केवलज्ञानावरण रूप से ज्ञानावरणी कर्म पाँच प्रकार का और चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनावरण तथा निद्रा; निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला एवं स्त्यानगृद्धि के भेद से नौ प्रकार का होता है।

जब जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना माने या स्वरूपाचरण में असावधानी करे तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - १. दर्शनमोहनीय, २. चारित्रमोहनीय। मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व - इसतरह तीन भेद दर्शन मोहनीय के हैं, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद

से १६ एवं हास्य आदि नोकषायें - इस तरह २५ कषायें चारित्र मोहनीय के भेद हैं।

-- -- --

जीव के दान, लाभ, भोग उपयोग और वीर्य के विघ्न में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसके उपर्युक्त पाँच भेद हैं।

जब आत्मा स्वयं मोहभाव के द्वारा आकुलता करता है, तब अनुकूलता, प्रतिकूलतारूप संयोग प्राप्त होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यह साता और असाता के भेद से दो प्रकार का है।

-- -- --

जीव अपनी योग्यता से जब नारकी, तिर्यच, मनुष्य या देव शरीर में रुकता है, तब उसके रुकने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे आयु कर्म कहते हैं। यह आयुकर्म नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु के भेद से चार प्रकार का है।

-- -- --

जिस शरीर में जीव वर्तमान हो उस शरीरादि की रचना में जिस कर्म का उदय निमित्त है, उसे उसप्रकार का नामकर्म कहते हैं। यह शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म के भेद से दो प्रकार का होता है। इसकी प्रकृतियाँ ९३ हैं।

-- -- --

जीव को उच्च या नीच आचरण वाले कुल में पैदा होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह उच्च गोत्र और नीच गोत्र - इसप्रकार दो भेदवाला है।

-- -- --

राग-द्वेष-मोह - ये तीन कर्मों के बन्धन में मूल कारण हैं, इन्हें भावकर्म कहते हैं। इनके सिवाय यह शरीर नो कर्म है। द्रव्यकर्म खली के समान हैं, भावकर्म तेल के समान हैं और नोकर्म तेलयंत्र (कोल्हू) के समान हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न आकाश के समान हैं।

-- -- --

जिसप्रकार तेली के यहाँ यंत्र (कोल्हू) खली, तेल एवं आकाश - ये चार पदार्थ हैं उसीप्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म और आत्मा का एक ही स्थान पर संयोग है। आत्मा इन तीनों में रहता है।

-- -- --

कर्मों में वर्ण, रस, गंध और स्पर्शगुण हैं; परन्तु आत्मा में वर्णादि नहीं हैं। वह तो मात्र ज्ञान ज्योति से युक्त है। जीव द्रव्य निराकार है, ज्ञान-दर्शन उसके गुण हैं। कर्माधीन होकर यह जीव मनुष्य, देव आदि गतियों में गमन करता है, वे ही जीव की पर्यायें हैं। द्रव्यदृष्टि से जीव नामक पदार्थ एक होने पर भी गुण एवं पर्यायों के भेद से अनेक भेदों से विभक्त होता है।

-- -- --

यह मनुष्य मरकर अपने परिणामों (भावों) के अनुसार कभी मृग (पशु) होता है, मृग से देव हो जाता है; देव से वृक्ष (एक इन्द्रिय जीव) तक हो जाता है। मनुष्य, मृग, देव एवं वृक्ष के भेद से जीव की चार पर्यायें (दशायें) हुई; परन्तु सब पर्यायों में भ्रमण करनेवाला जीव एक ही है। अणु मात्र (सूक्ष्म) देह को धारण करनेवाला जीव ही अपने कर्मों के अनुसार हजार योजन प्रमाण के विशाल शरीर को भी धारण कर लेता है - ऐसे छोटे-बड़े रूप में संकोच-विस्तार रूप होने की क्षमता जीव में है।

-- -- --

देखो, स्फटिक रत्न तो बिल्कुल शुभ्र है; उसके पीछे अन्य रंगों के रखने पर जिसप्रकार उसका रंग बदल जाता है, ठीक इसी प्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप तीन शरीरों के संबंध से आत्मा कल्मष (मैला) होकर संकटों में पड़ जाता है।

-- -- --

यद्यपि यह आत्मा शरीर में रहता है; परन्तु इस आत्मा के कोई शरीर नहीं है। ज्ञान ही इसका शरीर है। आत्मा इन लौकिक शरीरों में रहकर भी उनसे अस्पृष्ट है, अछूता है; क्योंकि आत्मा में स्पर्शगुण ही नहीं है।

-- -- --

मांस, रक्त, चर्ममय प्रदेश में रहकर भी जिसतरह गोदुग्ध रक्त-मांसमय नहीं है। साधु संतों के द्वारा भी सेवनीय है, उसीप्रकार मांस-अस्थि-चर्म आदि कर्मरूपी शरीर में रहकर भी आत्मा परम पावन है, शुद्ध है, निर्मल है। कर्मों से आच्छादित रहकर भी आत्मा अपने अस्तित्व का बोध स्वयं कर सकता है, दूसरों को कराने में निमित्त बन सकता है।

जिसप्रकार बीज में वृक्ष छिपा है, उसीतरह इस सदेह बहिरात्मा में देहरहित परमात्मा विराजमान है, देह-देवालय में कारण परमात्मा विराजमान है।

-- -- --

लोक में यद्यपि छहद्रव्य एकमेक से होकर सर्वत्र भरे हैं; परन्तु एक द्रव्य और उसका गुण दूसरे द्रव्य या गुणरूप नहीं हो सकता। सब अपने-अपने स्वरूप में पूर्ण स्वतंत्र हैं। जिसप्रकार दूध से भरे घड़े में मधु को भर दिया जाये तो वह भी उसी घड़े में समा जाती है, उसीप्रकार आकाश द्रव्य में सभी द्रव्य समा जाते हैं। भले ही एक-एक द्रव्यों का विस्तार इतना है कि वह अकेला लोकपूर्ण हो जाता है, तथापि आकाश की अवगाहन शक्ति अपार है, असीमित है कि उसमें सभी समा जाते हैं।

-- -- --

जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखने की शक्ति पायी जाये उसे जीव कहते हैं। वह अनादि निधन है। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा न तो वह कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा। इसके सिवाय वह ज्ञाता है अर्थात् ज्ञानोपयोग से सहित है, दृष्टा है अर्थात् दर्शनोपयोग से युक्त है। द्रव्यकर्म और भावकर्मों को करने वाला है, ज्ञानादि गुण तथा शुभ-अशुभ कर्मों को करने वाला है, तथा शुभ-अशुभ कर्मों के फलों का भोक्ता है और स्वदेह प्रमाण है। न सर्वव्यापक है और न अणुरूप है, अनेक गुणों से युक्त है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है। नामकर्म के उदय से जितना छोटा-बड़ा शरीर प्राप्त होता है, तदनुसार संकोच-विस्तार हो जाता है।

-- -- --

जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान, आत्मा, अन्तरात्मा और ज्ञानी - ये सब जीव के पर्यायवाची नाम हैं। चूंकि यह जीव वर्तमान में जीवित है, भूतकाल में भी जीवित था और अनागतकाल में भी जीवित रहेगा - इसलिए इसे जीव कहते हैं। सिद्ध भगवान अपनी पूर्व पर्यायों में जीवित थे, वर्तमान में जीवित हैं और भविष्य में जीवित रहेंगे; इसलिए वे भी 'जीव' कहलाते हैं।

-- -- --

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - ये दस प्राण पंचेन्द्रिय जीव के विद्यमान हैं। इसकारण यह 'प्राणी' कहलाता है। इसके असंख्यात प्रदेशी स्वरूप को क्षेत्र कहते हैं और उसे जानता है; इसलिए 'क्षेत्रज्ञ' भी कहलाता है। पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्ति करने से यह 'पुरुष' कहा जाता है और अपने को (स्वयं को) पवित्र करता है, इसलिए पुमान कहलाता है।

-- -- --

द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा जीव द्रव्यनित्य है और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है। एक साथ दोनों अपेक्षाओं से यह जीव उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यरूप है। जो पर्यायों पहले नहीं थी, उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है। किसी पर्याय का उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है। और दोनों पूर्व पर्यायों में तदवस्थ होकर रहना ध्रौव्य कहलाता है। इसप्रकार यह आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - इन तीनों लक्षणों से सहित है।

-- -- --

नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव - इन चार भेदों से युक्त संसार रूपी भंवर में परिभ्रमण करना संसार पर्याय है और समस्त कर्मों का क्षय मोक्ष पर्याय है।

-- -- --

सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र फल देने वाले होते हैं। जिसप्रकार अंधपुरुष का दौड़ना उसके पतन का ही कारण होता है, उसीप्रकार

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से शून्य पुरुष का चारित्र भी उसके पतन का कारण है, कुगति का कारण है।

-- -- --

जो अनन्तज्ञान आदि गुणों से सहित, घातिकर्मों से रहित, कृतकृत्य हो तथा सबके भला होने में सद्निमित्त हो, वह आप्त है। जो आप्त का कहा हो, वह आगम है। अनन्त सुख का अभ्युदय प्राप्त सिद्धपरमेष्ठी मुक्त जीव कहे जाते हैं।

-- -- --

आत्मतत्त्व को पाने के लिए आत्मज्ञान की जरूरत है। परमात्मा का ज्ञान होने पर भी उस पर श्रद्धा की आवश्यकता है। मात्र श्रद्धान व ज्ञान होने पर भी काम नहीं होता। श्रद्धा व ज्ञान के होने पर जो लोग संयम पालने के लिए अपने सर्वसंग का परित्याग करते हैं, वे धन्य हैं।

-- -- --

एक चेतन परिग्रह के रूप में स्त्री के ग्रहण करने के बाद सुवर्ण आदि अनेक अचेतन परिग्रह को ग्रहण करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि कन्या ग्रहण के बाद उसके लिए आवश्यक जेवर वगैरह बनवाने पड़ते हैं एवं अर्थ संचय करना पड़ता है। बाद में यह भावना होती है कि कुछ अचल संपत्ति का निर्माण करें। इसप्रकार मनुष्य संसार के बंधन में बंधता चला जाता है।

-- -- --

स्त्री और पुरुष भले ही छुपकर रति-क्रीड़ा करते हैं, परन्तु गर्भ रहने पर तो गर्भिणी का मुखम्लान हो ही जाता है, शर्म से माथा नीचा रहता है। प्रसववेदना से बढ़कर लोक में कोई दुःख नहीं है। जिस लौकिक सुख का फल ऐसा भयंकर दुःख है, उस सुख के लिए धिक्कार है।

एक बूँद के समान सुख के लिए पर्वत के समान दुःख को भोगने के लिए यह मनुष्य तैयार होता है, यह आश्चर्य है। यदि दुःख के कारणभूत इन पंचेन्द्रिय विषयों का परित्याग करे तो सागर जैसा संसार बूँद के समान रह जाता है, परन्तु अविवेकीजन इस बात का विचार नहीं करते हैं।

-- -- --

अग्नि पानी से बुझती है और घी से बढ़ती है। इसीप्रकार कामाग्नि सच्चिदानन्द आत्मरस से बुझती है और परस्पर के संसर्ग से बढ़ती है - यह नियम है। केवल कामाग्नि ही नहीं, बल्कि पंचेन्द्रिय के विषयरूपी पंचाग्नि इष्ट पदार्थों के प्रदान करने पर बढ़ती है और उनसे उपेक्षित होकर आत्मा में मग्न होने पर वह विषय रूप पंचाग्नि अपने आप बुझती है।

-- -- --

स्नान, भोजन, गंध, पुष्प, आभूषण, नृत्य, गान आदि आत्मा को तृप्त नहीं कर सकते हैं। आत्मा की तृप्ति आत्मध्यान में ही हो सकती है। संसार सुख के मोह को छोड़कर आत्मध्यान का अवलंबन करें तो वह ध्यान आगे जाकर अवश्य मुक्ति को प्रदान करेगा।

-- -- --

जिसप्रकार काष्ठ की अग्नि काष्ठ को पत्थर पर रगड़ने से उत्पन्न होती है, उसीप्रकार शरीर में एकक्षेत्रावगाही जो चेतन तत्त्व है, वही आत्मा का चिह्न है। भेदविज्ञान की कला से जड़ शरीर से आत्मा रूप अग्नि तत्त्वाभ्यास के संघर्षण से भिन्न पहचान ली जाती है - ऐसे भेदविज्ञान के अभ्यास से ही आत्मा का परिज्ञान होता है।

-- -- --

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के क्रम से ही तद्रूप आत्मा का अनुभव करें तो चिद्रूप का शीघ्र परिज्ञान होता है। यह आत्मा पानी से गल नहीं सकता, अग्नि में जल नहीं सकता, तलवार से कट नहीं सकता, वायु से उड़ नहीं सकता। आग, पानी, आयुध, शास्त्रादि शरीर को ही मात्र बाधा पहुँचा सकते हैं, आत्मा को नहीं। शरीर नाशशील है और आत्मा अविनश्वर है, शरीर जड़स्वरूप और आत्मा चेतनस्वरूप है। शरीर भूमि के समान है और आत्मा आकाश के समान है।

-- -- --

आत्मा स्वभाव से करोड़ सूर्य-चन्द्रमा के समान उज्वल प्रकाश के समान चेतन प्रकाश से युक्त है। वह आत्मा तीन लोक के समस्त पदार्थों को

जान-देख सकता है और आत्मा की ध्यानाग्नि से कठोर कर्म भी जलकर भस्म हो जाते हैं।

-- -- --

बाहर के विषय को जानना व्यवहार है और अंतरंग विषय को अर्थात् अपने आत्मा को जानना निश्चय है। आत्मा के पाँच इन्द्रियाँ नहीं हैं, वह सर्वांग से सुख का अनुभव करता है, पौद्गलिक पंचवर्ण आत्मा के नहीं हैं। वह केवल चैतन्य प्रकाशमय है। आत्मा के मन नहीं, वचन नहीं, शरीर नहीं, क्रोध-मान-माया-लोभ, जन्म-मरण, रोग-बुढ़ापा आदि कोई आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं। ये सब चिद्विकार एवं शरीर के विकार हैं।

-- -- --

आत्मतत्त्व को जानने वाला कारण परमात्मा है। आत्मा तीन प्रकार के हैं। १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा। देह और जीव को एक मानने वाला अज्ञानी बहिरात्मा है। अन्तरात्मा तीन तरह के हैं, उत्तम, मध्यम एवं जघन्य। इनके द्वारा जिस शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है, वह कारण परमात्मा है। अरहन्त एवं सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

-- -- --

आत्मा शुद्ध है यह कथन निश्चय नयात्मक है। आत्मा कर्मबद्ध है - यह कथा व्यवहार नयात्मक है। आत्मा को शुद्ध स्वरूप से जानकर उसका ध्यान करने पर वह आत्मा कर्म से निर्वृत्त होकर शुद्ध होता है। आत्मा को सिद्धस्वरूप में देखनेवाले स्वतः सिद्ध होते हैं।

-- -- --

जिनेन्द्रदेव को पाषाण आदि में तदाकार स्थापित करके भक्ति करना भेद भक्ति है, यह पुण्य बंध का हेतु होने से स्वर्ग का कारण है और अपने शुद्धात्मा में उनको स्थापित करना अभेद भक्ति है - यह सिद्धपद के लिए युक्ति है। आत्मतत्त्व को प्राप्त करने की युक्ति को जानकर ध्यान के अभ्यास काल में भेद भक्ति का अवलम्बन करें। इसप्रकार आत्मा के ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति अवश्य होगी।

-- -- --

स्फटिक की प्रतिमा को देखकर उसमें प्रतिबिम्बित स्वयं को देखकर ऐसा अनुभव करें कि “मैं भी ऐसा ही हूँ” ऐसा समझते हुए अपने आत्मा का ध्यान करें तो कारण-परमात्मा सर्वांग में दिखता है। जिस समय आत्मा का दर्शन होता है, उससमय कर्म झरने लगते हैं एवं आत्मा में अनंतगुणों का विकास होने लगता है।

-- -- --

धर्मध्यान व शुक्लध्यान में स्थूल रूप से तो मात्र इतना ही अन्तर है कि धर्मध्यान में आत्मा घड़े में रखे दूध के समान दिखता है और शुक्लध्यान में स्फटिक के बर्तन में रखे दूध के समान निर्मल दिखता है। शुक्ल ध्यान में आत्मा अत्यन्त निर्मल दिखता है। धर्मध्यान युवराज के समान है, जो पूर्ण स्वतंत्र नहीं है और शुक्लध्यान अधिराज के समान पूर्ण स्वतंत्र होता है।

-- -- --

हे भव्य! घोर तपश्चर्या होने मात्र से कुछ नहीं होता। अंतरंग में एक अन्तर्मुहूर्त तक परिणाम स्थिर होना चाहिए। इस चंचल चित्त को आत्मा में स्थिर करने की आवश्यकता है।

-- -- --

न्याय दो प्रकार का है - एक दुष्टों का निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषों का संरक्षण करना, उनके भरण-पोषण की उचित व्यवस्था करना। यह राजा का सनातन धर्म है। अतः सत्ता संभालने वालों को इन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

-- -- --

पंचास्तिकाय, षट्काय, सप्ततत्त्व एवं नवपदार्थों को भिन्न-भिन्न रूप से जानकर श्रद्धान करना एवं व्रतों का आचरण करना भेद रत्नत्रय या व्यवहार रत्नत्रय है तथा पर-पदार्थों की चिन्ता छोड़कर अपने आत्मा का ही श्रद्धान एवं उसी के स्वरूप का ज्ञान तथा मन को उसी में मग्न करना अभेद रत्नत्रय है। उसे ही निश्चय रत्नत्रय भी कहते हैं। ये दोनों रत्नत्रय ही यथार्थ मुक्ति का मार्ग है, अतः इसे स्थिर चित्त से समझना होगा।

-- -- --

इच्छाओं का निरोध करना तप है। जब इच्छाओं का निरोध होगा, मन में कोई लौकिक भोगोपभोगों इच्छा ही नहीं उठेगी तो मन आत्मा में अपने आप लगेगा। अपने मन को आत्मा पर केन्द्रित करना – यही तपस्या का प्रयोजन है। यदि मन मरकट नियंत्रण में नहीं हुआ तो बाह्य तपस्या निरर्थक है। उससे मात्र लोगों की सहानुभूति एवं श्रद्धा तो मिल सकती है; परन्तु निराकुल सुखरूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

मन के विकल्प और इन्द्रियों के विषय कषायों को उत्पन्न करते हैं, कषायों और योगों से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है एवं आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन से कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है। इसप्रकार योगों का हलन-चलन और कषायें ही आस्रव-बंध के स्रोत हैं। अतः नियमित स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा के माध्यम से निरन्तर तत्त्वाभ्यास करें तभी आस्रवबन्ध का अभाव होकर संवर-निर्जरा पूर्वक मोक्ष की सिद्धि होती है।

आत्मा को जानना सदज्ञान है और उस आत्मा को जानते रहना ही ध्यान है। अपने ज्ञान को या मन को पर पर्यायों पर से हटाकर पाँचों इन्द्रियों के विषयों, मनोविकारों और पर-पदार्थों पर से हटाकर शुद्ध आत्मा पर केन्द्रित करना ही ध्यान है।

हम अपने आत्मारूप सूर्य की विकेन्द्रित किरणों को आत्मा पर केन्द्रित कर दें तो ४८ मिनट में सम्पूर्ण कर्म कलंक जलकर भस्म हो जायेंगे और हमारा आत्मा कुन्दन की भाँति केवलज्ञान की चमक उत्पन्न कर परमात्मा बन जायेगा, सिद्ध हो जायेगा।

अनेक प्रकार से तत्त्वचिन्तन करना स्वाध्याय है। एक ही विचार में मन

को लगाना सामान्य ध्यान है और आत्मा में मन को स्थिर करना निश्चय से धर्मध्यान है। इस धर्मध्यान में आंशिक रूप से अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति होती है, सिद्धों जैसे निराकुल सुख का अनुभव होता है।

धर्मध्यानी व्यक्ति जो स्वतः अनुभव करता है, उसे ही कभी उपदेश द्वारा, कभी कृति के रूप में जिज्ञासु जगत के सामने प्रस्तुत करता है। इसप्रकार कोई-कोई ज्ञानी धर्मात्मा आत्मकल्याण के साथ सहजभाव से लोकोपकार भी करते हैं, परन्तु किसी झगड़े-झंझट में नहीं उलझते। धर्मध्यान के बल से अपने कर्मों का संवर और निर्जरा करते हुए आगे बढ़ते हैं।

हवा में रखे दीपक की हिलती हुई लौ (ज्योति) की भाँति चंचल मन में जो आत्मदर्शन होता है, वह धर्मध्यान है और काँच की पेटी में बन्द हवा रहित निश्चय दीपक ज्योति के समान निष्कम्प मन में जो आत्मदर्शन होता है वह शुक्लध्यान है।

जो व्यवहार धर्मध्यान करते हैं, उनको स्वर्ग सम्पत्ति तो नियम से मिलेगी ही, कालान्तर में आत्मध्यानरूप निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सीढ़ी पर पहुँचकर मुक्ति भी प्राप्त होगी।

अन्दर के कषाय भावों का त्याग न होने पर बाहर सब कुछ त्यागें तो भी कोई लाभ नहीं? सर्प कांचली के छोड़ देने से विषरहित नहीं होता।

वस्तु स्वरूप के निरूपण को सुनकर उसके अनुसार चलना ही वस्तुतः जिनेन्द्रवाणी से जिनेन्द्र भक्ति है। अपनी इच्छानुसार मनमाने ढंग से उछलना-कूदना, नाचना-गाना, संगीत में रस लेना जिनेन्द्रभक्ति नहीं है।

वस्तुतः 'गुणेषु अनुरागः भक्तिः' इस सूत्र के अनुसार जिनेन्द्र के वीतराग-सर्वज्ञता आदि गुणों की पहचानपूर्वक जिनेन्द्र के प्रति हृदय में स्नेह उमड़ना

भक्ति भावना है। जब वह भक्ति की भावना हृदय में न समाये तो वाणी में फूट पड़े, इसमें दोष नहीं है; किन्तु गुणों को जाने-पहचाने ही नहीं, केवल देखादेखी कर्णेन्द्रिय के विषय के वशीभूत हो राग अलापता रहे - वह कोई भक्ति नहीं है।

अभेद भक्ति का स्वरूप - समवसरण में अरहंत रहते हैं और लोकान्त में सिद्ध रहते हैं; अरहंतों-सिद्धों का स्वरूप जानकर अपनी आत्मा में अरहंत व सिद्धों को स्थापित कर भावपूजा करना तथा अपने आत्मा को उन जैसा ही अनुभव करना, उन जैसी वीतरागता, सर्वज्ञता, अपने आत्मा में प्रगट होने की भावना भाना अभेद भक्ति है।

अपने में ही पंचपरमेष्ठी को देखना दोनों में भेद न करना, भक्त और भगवान में भेद दिखाई न देना दोनों में समानता का अनुभव अभेद भक्ति है। भेदभक्ति का स्वरूप दोनों में भेद का अनुभव करना उनकी मूर्ति बनाकर पूजना वर्तमान में स्वयं को भक्त और उन्हें भगवान के रूप में देखना, स्वयं को दीन और उन्हें दीनानाथ के रूप में देखना व्यवहार भक्ति है।

भक्तियों में सर्वश्रेष्ठ अभेद भक्ति है। यही युक्ति (पूर्ण विवेक) सहित भक्ति है, इसमें भक्ति में भावुकता को स्थान नहीं है।

मात्र दुर्गति को जाने वाले चक्रवर्ती की पट्टरानी ही दुर्गति को जाती है; किन्तु स्वर्ग एवं मोक्ष जानेवाले चक्रवर्ती की स्त्रीरत्न अर्थात् पट्टरानी को तो स्वर्ग की प्राप्ति ही होती है।

पुरुषों के परिणाम के अनुसार ही स्त्रियों का परिणाम होता है, इसलिए पुरुष की गति के अनुसार ही वह स्त्रीरत्न भी कुछ कम लगभग उसी मार्ग में रहती है। हाँ, स्त्री पर्याय में मुक्ति संभव नहीं, अतः वे स्वर्ग ही जाती हैं।

यह जीव जहाँ जाता है, वहीं के परिजनों से रागात्मक संबंध हो जाते हैं। माता-पिता, भाई-बहिनों, स्त्री-पुत्र आदि जितने भी रिश्तेदार होते हैं,

सभी से स्नेह हो जाता है; फिर उनके वियोग में यह इष्ट वियोगजनित आर्तध्यान करता है। ध्यान रहे, यद्यपि तीर्थकर के विरह का ध्यान शुभ आर्त है, अतः पुण्यबंध का कारण है, पर है तो बन्धन ही न? यह शुभ आर्तध्यान भी है तो संसार का ही कारण।

मोक्षगामी नामी पुरुष भी अपनी पूर्व पर्यायों में पुण्य-पाप के फलों में नाना योनियों में जाकर जन्में। जब उनकी काललब्धि आई, भली होनहार आने का समय आया तो तदनुसार बुद्धि, व्यवसाय और सहायक भी वैसे ही मिलते गये और एक दिन वह आया कि अपने-अपने समय में सबको निर्वाण की प्राप्ति हो गई।

हे भव्य! 'दृष्टि' शब्द के मूलतः दो अर्थ हैं। एक श्रद्धा और दूसरा अपेक्षा। प्रथम श्रद्धा के अर्थ में 'दृष्टि के विषय' की बात करें तो हमारी दृष्टि का विषय, हमारी सत् श्रद्धा का श्रद्धेय, हमारे परम शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत ज्ञान का ज्ञेय और हमारे परम ध्यान का ध्येय शुद्धात्मा है, कारण परमात्मा है।

प्रत्येक वस्तु (छहों द्रव्य) अपने-अपने स्वचतुष्टयमय होती हैं। स्वचतुष्टय का अर्थ है वस्तु का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव। इन चारों सहित होने से ही द्रव्य को स्वचतुष्टयमय कहते हैं। वस्तु इन स्वचतुष्टयमय होने से ही सत् है।

अपना आत्मा भी एक वस्तु है, द्रव्य है। इसके भी अपने स्वचतुष्टय हैं। सामान्य-विशेषात्मकता इसका द्रव्य है, असंख्यात प्रदेशी-अखण्ड इसका क्षेत्र है, नित्यानित्यात्मकता इसका काल है और एकानेकात्मकता इसका भाव है। ध्यान रहे, सम्पूर्ण चतुष्टयमय वस्तु का नाम भी द्रव्य है और

इन चार चतुष्टय में एक द्रव्यांश का नाम भी द्रव्य है।

-- -- --

जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव – इन चार को स्वीकार नहीं करेगा तो उसके मतानुसार वस्तु व्यवस्था ही नहीं बनेगी; क्योंकि द्रव्य का अर्थ है वस्तु, क्षेत्र का अर्थ है प्रदेश, काल का अर्थ है पर्याय और भाव का अर्थ है गुण। जिसमें ये द्रव्य-गुण-पर्याय और प्रदेश सम्मिलित हैं, उसका नाम ही वस्तु है।

-- -- --

पर्यायों दो प्रकार की होती हैं – १. सहभावी, २. क्रमभावी। गुणों को सहभावी पर्याय भी कहते हैं और क्रमभावी पर्याय को पर्याय कहते हैं। अतएव हम पर्याय के नाम पर सभी पर्यायों को भी दृष्टि के विषय में से निकाल नहीं सकते।

-- -- --

यदि सिद्धान्त का अध्ययन करना है तो गोम्मटसार का स्वाध्याय करना और यदि अध्यात्म जानना है तो आत्मख्याति का स्वाध्याय करना। ऐसा श्री आचार्य कल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने कहा है।

तत्त्वान्वेषण के काल में व्यवहार मुख्य रहता है और अनुभूति के काल में निश्चय। इसप्रकार व्यवहार की भी उपयोगिता है, व्यवहार को पूर्णरूप से उड़ाया नहीं जा सकता।

-- -- --

मुख्य सो निश्चय और गौण सो व्यवहार। इन परिभाषाओं का अर्थ यह नहीं है कि – निश्चय को सदैव मुख्य रखना चाहिए और व्यवहार को सदैव गौण रखना चाहिए।

-- -- --

जिसे गौण करना हो, उसका निषेध न करके उसके बारे में कुछ न कहना ही गौण करना है, निषेध करते ही तो वह मुख्य हो जाता है। चाहे प्रतिपादन करो या निषेध – दोनों में ही मुख्यता हो जाती है। जैसे – दृष्टि के विषयभूत आत्मा में पर्याय नहीं है – ऐसा कहकर हमने पर्यायों को गौण नहीं किया, बल्कि मुख्य कर दिया। गौण तो उस विषय में चुप रहने का नाम है।

-- -- --

किसी घटना को या किसी व्यक्ति को बार-बार याद करने एवं किसी रूप में उसे व्यक्त करते रहने का नाम गौण करना नहीं है, बल्कि उसे अचर्चित करना ही गौणता का लक्षण है।

-- -- --

द्रव्य को यदि अनन्त गुणों के रूप में अलग-अलग करके देखा जायेगा तो द्रव्य नहीं दिखेगा; बल्कि अनन्त गुण दिखेंगे। जब अनन्तगुणों को अभेद करके देखेंगे तब ही द्रव्य दिखाई देगा। जब तक ज्ञान-दर्शन-चारित्र भेदरूप से दिखाई देंगे, तब तक आत्मा नहीं दिखेगा। अनन्तगुणों के अभेद का नाम द्रव्य है।

-- -- --

यद्यपि द्रव्य में जो अनन्त गुण हैं, उन सभी में लक्षणभेद हैं। जैसे – ज्ञानगुण का काम जानना, दर्शनगुण का काम देखना, श्रद्धागुण का काम अपनापन स्थापित करना। इन सभी के लक्षण अलग-अलग होने से ये जुदे-जुदे हैं; किन्तु ये कभी भी बिखर कर अलग-अलग नहीं होते। ये गुण अनादि से अनन्तकाल तक एक दूसरे से अनुस्यूत हैं – ऐसे अनन्त गुणों के अभेद को द्रव्य कहते हैं।

-- -- --

आत्मा में द्रव्यभेद, क्षेत्र भेद, काल भेद और गुणभेद तो रहेंगे, किन्तु यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा को प्राप्त करना है तो इन भेदों को गौण करना होगा, इन चारों के अभेदस्वरूप पर दृष्टि करनी होगी।

जैसे नदी का हमेशा बहते रहना उसकी 'नित्यता' है और उसका प्रवाहीरूप अनित्यता है। उसीप्रकार द्रव्य परिणामनशील (अनित्य) भी है और अपरिणामी (नित्य) भी है।

-- -- --

आत्मा में जो अनित्य नाम का धर्म है, वह भी नित्य परिणामित होता रहता है। अतः नित्य है। नित्य धर्म के समान अनित्य धर्म भी नित्य अस्तित्वमय होने से नित्य ही है। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि

गुण नित्य हैं वैसे ही अनित्य नाम का धर्म भी नित्य है।

-- -- --

जब तक ज्ञान-पर्याय ज्ञायकस्वभावी निज आत्मतत्त्व को स्पर्श नहीं करेगी, तबतक पर्याय में केवलज्ञान नहीं होगा। स्वभाव में तो सर्वज्ञत्वशक्ति पड़ी हुई है, लेकिन जब तक ज्ञान पर्याय उस स्वभाव का स्पर्श नहीं करेगी तबतक उसमें केवलज्ञान कहाँ से आयेगा?

-- -- --

उपयोग की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है और उपयोग स्वयं पर्याय है। यदि वह उपयोग (पर्याय) त्रिकालीध्रुव में अभेद रूप से एकाकार नहीं हो तो आत्मा का ध्यान नहीं होगा। उन दोनों के बीच में यदि थोड़ी भी सांध (गेप) रहेगी, तो आत्मा का निरन्तर ध्यान कैसे होगा?

-- -- --

वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय होती है। वस्तु में दो चीजें होती हैं। एक का नाम है विस्तारक्रम और दूसरी का नाम है प्रवाहक्रम। विस्तारक्रम क्षेत्र की अपेक्षा होता है और प्रवाहक्रम काल की अपेक्षा होता है।

-- -- --

आत्मा के असंख्यात प्रदेशों को इसप्रकार फैला दें कि एक प्रदेश में दूसरा प्रदेश न रहे तो वे प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाएँगे।

केवली समुद्घात में जो लोक पूरणदशा होती है, उसमें लोकाकाश के एक-एक प्रदेश के ऊपर आत्मा का एक-एक प्रदेश रहता है अर्थात् जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक आत्मा के प्रदेश हैं; आत्मा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। लोकाकाश में जो असंख्यात प्रदेश हैं अर्थात् तीनों लोक में जो ऊपर-नीचे, अगल-बगल में प्रदेश हैं, उन प्रदेशों का स्थान अनादिकाल से निश्चित है और अनन्तकाल तक रहेगा। एक भी प्रदेश एक इंच भी इधर-उधर नहीं हिलेगा तथा उन प्रदेशों के छहों द्रव्यों में किस-किस तरफ कौन-कौन से प्रदेश रहेंगे, यह भी निश्चित है।

-- -- --

परमाणु की रचना षट्कोण होती है इसकारण जगह बिल्कुल भी खाली नहीं रहती है, बीच में जिसप्रकार परमाणु में छह तरफ से छह परमाणु चिपक सकते हैं; उसीप्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी एक प्रदेश को छह प्रदेश घेरे हुए हैं। आत्मा के वे प्रदेश अनादिकाल से अनन्तकाल तक उसी स्थिति में रहेंगे, चाहे वे प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जायें या वे छोटे शरीर में आकर सिमट जायें।

-- -- --

जब आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं, तब भी आत्मा के प्रदेशों का क्रम वही रहता है। वह क्रम कभी बदला नहीं जा सकता है; इसे ही **विस्तार क्रम** कहते हैं।

जिसप्रकार विस्तारक्रम में प्रदेशों के स्थान को बदला नहीं जा सकता है, उसीप्रकार **प्रवाहक्रम** में पर्याय को निश्चित समय से बदला नहीं जा सकता है। जिसप्रकार प्रदेशों का क्रम सुनिश्चित है; उसीप्रकार अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक जितने समय हैं, उनमें प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय एक-एक समय में निश्चित है, न तो यह संभव है कि कल की पर्याय को आज ले आयें या आज की पर्याय को कल ले जायें।

-- -- --

आत्मा के प्रदेश (क्षेत्र) के पलटने से कोई बिगाड़-सुधार नहीं है। यदि माथे में स्थित आत्मा के प्रदेश पैर में चले जायें या पैर में स्थित प्रदेश माथे में आ जायें तो हमें कोई दुःख नहीं होता है; इसलिए प्रदेशों के कारण कोई बिगाड़-सुधार नहीं है।

हम अज्ञानवश पर में फेर-फार करने रूप कर्तृत्व को, धर्नाजन करने एवं कामभोग की क्रियाओं को पुरुषार्थ समझते हैं, जो नरक-निगोद में डालने वाले, संसार में घुमानेवाले हैं। वस्तुतः यह अन्यथा पुरुषार्थ है। असली पुरुषार्थ तो उस दिन प्रकट होगा जिस दिन हम यह स्वीकार करेंगे कि भगवान आत्मा काल से भी अखण्ड है अर्थात् पर्यायों में भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक प्रत्येक द्रव्य प्रति समय पलटेगा, एक समय भी पलटे बिना रहेगा नहीं - यह बात भी नित्य है; क्योंकि यदि यह बात अनित्य होती तो फिर द्रव्य कभी पलटता और कभी नहीं पलटता, जबकि ऐसा नहीं होता है। द्रव्य नित्य पलटता है। जब हम - यह कहते हैं पर्याय नित्य पलटती है तो हमें पलटने के साथ नित्यता का वैर-विरोध सा लगता है, जबकि इसमें वस्तुतः वैर-विरोध नहीं है।

जैसा वस्तु का स्वभाव कभी नहीं पलटना है, वैसा ही वस्तु का स्वभाव 'प्रति समय पलटना' भी है। वस्तु का द्रव्यस्वभाव कभी नहीं पलटने वाला है और वस्तु का पर्यायस्वभाव प्रतिसमय पलटने वाला है। ये दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं। ऐसा नहीं है कि द्रव्यस्वभाव द्रव्य का स्वभाव है और पर्याय स्वभाव पर्याय का। ये दोनों ही वस्तु के नित्य स्वभाव हैं।

जीव अनादिकाल से प्रतिसमय पलट रहा है एवं अनन्तकाल तक पलटेंगा, फिर भी वह पलटकर कभी अजीव नहीं होगा।

एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है - इसका नाम है कभी नहीं पलटना एवं अपने में निरन्तर परिवर्तन होने का नाम पलटना है।

भगवान आत्मा में अनन्तगुण हैं व असंख्य प्रदेश हैं और उन अनन्तगुणों में से कभी भी एक गुण कम नहीं होगा और असंख्य प्रदेशों में से कभी भी एक प्रदेश कम नहीं होगा। जिसप्रकार यह नित्यस्वभाव हैं; उसीप्रकार प्रत्येक गुण में प्रतिसमय परिणमन होगा - यह भी नित्यस्वभाव ही है। मात्र 'नहीं पलटना' ही नित्यस्वभाव नहीं है; अपितु 'प्रति समय पलटना' भी नित्यस्वभाव है।

पर्यायों से पार भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति होती है; मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है, मोक्ष होता है इसी पर्यायों से पार भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन, इसे निज जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।

शलाका पुरुष भाग-२ से ~

अजितनाथ स्तवन

अनन्त धर्ममय मूल वस्तु है, अनेकान्त सिद्धान्त महान ।
वाचक-वाच्य नियोग के कारण, स्याद्वाद से किया बखान ।।
आचार अहिंसामय अपनाकर, निर्भय किए मृत्यु भयवान ।
परिग्रह संग्रह पाप बताकर, अजित किया जग का कल्याण ।।

मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ने के लिए सर्वप्रथम मद्य-मांस-मधु का सेवन न करना, सात व्यसनों से सदा दूर रहना, पाँचों पापों का स्थूल त्याग होना, रात्रि में भोजन न करना, बिना छने जल का उपयोग न करना, प्राणीमात्र के प्रति करुणाभाव होना और नित्य देवदर्शन व स्वाध्याय करना सामान्य श्रावकों का प्राथमिक कर्तव्य है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग निज आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है, तत्त्वार्थ श्रद्धान से उपलब्ध होता है तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उस उपलब्धि में निमित्त होते हैं। एतदर्थ सामान्य श्रावक को भगवान आत्मा, सात तत्त्व एवं देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है।

जिस निकृष्ट काल में पाप की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हों, मद्य-मांस का सेवन सभ्यता की श्रेणी में सम्मिलित होता जा रहा हो, शराब शरबत की तरह आतिथ्य सत्कार की वस्तु बनती जा रही हो, अंडों को शाकाहार की श्रेणी में सम्मिलित किया जा रहा हो, मछलियों को जलककड़ी की संज्ञा दी जा रही हो। ऐसी स्थिति में इन सबकी हेयता का ज्ञान कराना और इनसे होने वाली हानियों से परिचित कराना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है। इन सबका त्याग किये बिना धर्म पाना तो दूर, उसे पाने की पात्रता भी नहीं आती।

सप्त व्यसनों का त्यागी और अष्ट मूलगुणों का धारी होना आवश्यक है; क्योंकि वह व्यक्ति ही आत्मा-परमात्मा की बात समझ सकता है। साततत्त्वों की बात समझ सकता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान कर सकता है। अतः प्रत्येक निराकुल सुख-शान्ति चाहनेवाले आत्मार्थी व्यक्ति को सप्तव्यसनों का त्यागी और अष्टमूलगुणों का धारी तो होना ही चाहिए।

-- -- --

मद्य-मांस-मधु और पाँचों उदुम्बर फलों का त्याग ही अष्ट मूलगुण है। मूलगुण अर्थात् मुख्य गुण, जिनके धारण किये बिना श्रावकपना ही संभव न हो। जिसप्रकार मूल (जड़) के बिना वृक्ष का खड़ा रहना संभव नहीं है, उसीप्रकार मूलगुणों के बिना, श्रावकपना भी सम्भव नहीं है।

-- -- --

ये मुख्यरूप से आठ हैं, अतः इन्हें अष्ट मूलगुण कहते हैं। मद्य-मांस-मधु एवं पाँच उदुम्बर फलों का सेवन महा दुःखदायक और असीमित पापों का घर है अर्थात् इनके खाने-पीने से महापाप उत्पन्न होता है; अतः इनका त्याग करके निर्मलबुद्धि को प्राप्त श्रावक ही जैनधर्म के उपदेश को प्राप्त होता है।

-- -- --

इस संसार में वैराग्य के मुख्यरूप से तीन कारण हैं - १. प्रथम तो यह है कि जीव निरन्तर यमराज (मृत्यु) के मुख में बैठा रहने पर भी जीवित रहने की सोचता है, तदनुसार निष्फल प्रयत्न भी करता है, तीव्र मोहवश मृत्यु को जीतने का प्रयत्न नहीं करता, अजर-अमर होने की दिशा में बिल्कुल भी नहीं सोचता। इसलिए इस अज्ञान अंधकार को धिक्कार है। मैं इस अंधेरे से ऊब चुका हूँ। अतः मैं तो शीघ्र सम्यग्ज्ञान ज्योति के प्रकाश में जाऊँगा।

-- -- --

दूसरा कारण यह कि - अनन्तकाल की अपेक्षा मनुष्य की आयु अत्यन्त अल्प है; परन्तु आश्चर्य यह है कि जो आयु के क्षण प्रतिपल

यमराज (मौत) के समीप पहुँचा रहे हैं, उनकी गोद में बैठा अपने को अमर माने बैठा है।

-- -- --

वैराग्य का तीसरा कारण यह है कि - ये जीव अभिलाषारूप ज्वाला में जलकर विषयभोग रूपी किसी सूखी नदी के तट पर खड़े पुष्प पत्र एवं फल विहीन वृक्षों की छाया का आश्रय खोजते-फिरते हैं, उनकी यह सुखी होने की आशा दुराशा मात्र है। निर्जल नदी और छाया एवं फल रहित वृक्ष अभिलाषा से जलते हुए प्राणियों को शीतलता कहाँ से प्रदान करेंगे?

-- -- --

हे भव्य! देवदर्शन की अचिन्त्य महिमा है और दिव्यध्वनि तो मिथ्यात्वरूप अन्धकार की विनाशक है ही; अतः देवदर्शन की महिमा में कहा गया है - हे भव्य! देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव का दर्शन पापों को नष्ट करनेवाला है, स्वर्ग का सोपान है, मोक्ष का साधन है। जिनेन्द्र देव के दर्शन से और साधु परमेष्ठियों की वन्दना से पाप इसतरह क्षीण हो जाते हैं, जैसे हाथ की चुल्लू का पानी धीरे-धीरे जमीन पर गिर ही जाता है, वह बहुत देर तक हाथ की चुल्लू में नहीं रह सकता।

-- -- --

प्रतिष्ठा होने के पश्चात् (वह) प्रतिमा भी साक्षात् जिनेन्द्रदेव के समान ही वन्दनीय-पूजनीय होती है; क्योंकि उस प्रतिमा के दर्शन से जिनेन्द्रदेव के दर्शन के समान ही पूरा लाभ होता है।

-- -- --

हे भव्य! जिनेन्द्रदेव का दर्शन-पूजन उनको प्रसन्न करने के लिए नहीं किए जाते, वरन् अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं। वे तो वीतराग होने से तुष्ट या रुष्ट नहीं होते, पर उनके गुणस्मरण करने से हमारा मन अवश्य ही प्रसन्न एवं पवित्र हो जाता है।

-- -- --

मन का निर्मल हो जाना व पाप भावों से बचे रहना ही जिनभक्ति का सच्चा फल है। दर्शन-पूजन का यही असली प्रयोजन है।

-- -- --

जिनबिम्ब दर्शन, सम्यग्दर्शन का निमित्त तो है ही - सातिशय पुण्य बन्ध का कारण भी है और अतिशय पुण्य का फल भी है। सातिशय पुण्योदय के बिना जिनेन्द्रदेव के दर्शनों का लाभ, उनकी भवोच्छेदक वाणी सुनने का सौभाग्य भी नहीं मिलता।

-- -- --

जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द के दर्शन करने से आत्मा के स्वरूप में रुचि जाग्रत हो जाती है, अपने आत्मा की अनन्त सामर्थ्य स्वरूप सर्वज्ञ भगवान की प्रतीति आ जाती है, अपने व पराये की पहचान हो जाती है। सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो जाने से मोहरूप अंधियारी रात्रि का नाश हो जाता है।

-- -- --

जो पुरुष श्री जिनेन्द्रदेव के आकारवाला जिनबिम्ब बनवाकर स्थापित करता है, श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा व स्तुति करता है - उसके कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।

-- -- --

जिनेन्द्र भगवान का भक्त भव्य जीव अपार महिमा के धारक इन्द्रपद को, सब राजाओं से पूजित चक्रवर्तीपद को और तीनलोक से पूजित तीर्थंकर पद को प्राप्त करके सिद्धपद की प्राप्ति करता है।

-- -- --

जो प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव का दर्शन नहीं करते, उनके गुणों का स्मरण नहीं करते, पूजन स्तवन नहीं करते तथा मुनिजनों को दान नहीं देते, उनका गृहस्थाश्रम में रहना पत्थर की नाव के समान है। वे गहरे भव समुद्र में डूबते हैं - नष्ट होते हैं।

-- -- --

जिनेन्द्र का भक्त सदा यही भावना भाता है कि मेरे हृदय में सदैव जिनदेव की भक्ति बनी रहे; क्योंकि यह सम्यक्त्व एवं मोक्ष का भी कारण है। भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति मेरे हृदय में सदा उत्पन्न हो; क्योंकि यह संसार का नाश करनेवाले और मोक्ष प्राप्त करनेवाले और मोक्षप्राप्त करानेवाले सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराने में सद्निमित्त है।

-- -- --

भव्यजीवों के द्वारा प्रातः उठकर अपने शरीर की उत्तम प्रकार से शुद्धि करके जिनबिम्ब के दर्शन किए जाते हैं; क्योंकि जो जीव प्रतिदिन प्रातःकाल शारीरिक शुद्धि करके सर्वप्रथम जिनबिम्ब का दर्शन करते हैं, वे भव्य अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेंगे।

-- -- --

जो भव्यजीव जिन स्तवन करके, सामायिक की शुद्धि करके, पंचकल्याणक की स्तुति करके, पंच नमस्कार मंत्र को हृदय में धारण करके, चैतन्य स्तुति करके, सिद्ध भक्ति करके श्रुत व गुरु की भक्ति करता है, वह सांसारिक सुख को प्राप्त करता हुआ मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

-- -- --

जब कोई व्यक्ति जिनेन्द्रदेव के दर्शनार्थ जाने का मन में विचार करता है, तब वह उस विचार मात्र में एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है तथा जब वह चलने को तैयार होता है तो उसके परिणाम और अधिक विशुद्ध होने से वह दो उपवास के फल का भागी होता है। और जब वह गमन करने का उपक्रम करता है, तब उसे तीन उपवास जितना पुण्य लाभ होता है। गमन करने पर चार उपवास का, मार्ग में पहुँचने पर एक पक्ष के उपवास का, जिनालय के दर्शन होने पर एक मास के उपवास का, जिनालय में पहुँचने पर छह मास के उपवास का, मन्दिर की देहली पर पहुँचते ही एक वर्ष का जिनेन्द्र की प्रदक्षिणा करने पर सौ उपवास का, नैत्रों से साक्षात् जिनेन्द्र के दर्शन करने पर हजार उपवास का फल मिलता है।

-- -- --

जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से पहचानता है, वही अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है तथा अरहंत परमात्मा व अपने आत्मा के स्वरूप को जाननेवालों का मोह नष्ट हो जाता है, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

-- -- --

भक्त अपने हृदय का हर्षोल्लास प्रगट करते हुए कह रहा है कि हे प्रभो! आपके मुख मण्डल रूप दिनकर के दर्शन करने से मेरा मिथ्यात्वरूपी अंधकार नष्ट हो गया है और मेरे हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है। अतः मुझे ऐसा हर्ष हो रहा है, जैसे किसी रंक को चिन्तामणि रत्न मिलने पर होता है। मानो मुझ रंक को आपके दर्शन के रूप में चिन्तामणि रत्न ही मिल गया है।

-- -- --

हे प्रभु! आपके गुणों का चिन्तन करने से अपने पराये की पहचान होती है, भेदविज्ञानरूप विवेक प्रगट हो जाता है तथा अनेक आपत्तियाँ-विपत्तियाँ विघटित हो जाती है।

-- -- --

सच्चे वीतरागी देव को रागी देव-देवताओं की श्रेणी में खड़ा तो नहीं कर दिया? तुम लौकिक कामनाओं का पुलिन्दा लेकर कहीं गलत जगह तो नहीं पहुँच गये? क्या तुमने सच्चेदेव का सही स्वरूप समझा है और इनके दर्शन से क्या केवल सम्यग्दर्शन-आत्मदर्शन ही चाहा है? आदि कुछ बातें विचारणीय हैं, यदि तुम सही दिशा में निर्णय पर पहुँचे हो तो तुम्हें देवदर्शन का लाभ अवश्य मिलेगा, इसमें जरा भी संदेह की गुंजाईश नहीं है।

-- -- --

लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का एक साथ होना अति दुर्लभ है; क्योंकि इनमें सौतिया, डाह या ईर्ष्या होती है।

-- -- --

कोई कितना भी भाग्यशाली क्यों न हो? पुण्य की अखण्डता तो कभी

किसी के होती ही नहीं है। जिसतरह जहाँ फूल हैं, वहीं कांटे भी हैं। जहाँ राग है, वहीं द्वेष भी है। सांसारिक सुख के आगे-पीछे दुःख भी होता ही है।

-- -- --

आयुर्कर्म के रहते हुए भी भावमरण मरण तो प्रतिपल होता ही रहता है। यदि हमें मरण इष्ट नहीं है तो मृत्यु के कारणभूत इस आयुर्कर्म से ही मुक्त होना होगा। जो मरण से डरते हैं उन्हें उससे भी पहले आयु कर्म को ही जीतना होगा। फिर न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।

-- -- --

जो मनुष्य को आत्मकल्याण से विमुख कर देवे, वह आदत व्यसन है अथवा जिसे कुशील आचरण, अभक्ष्य-भक्षण और हिंसारूप पाप-प्रवृत्ति को किए बिना चैन न पड़े, उन बुरी आदतों को दुर्व्यसन कहते हैं।

मूलाचार में कहा है कि - जो महादुःख को उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे उन बुरी आदतों को व्यसन कहते हैं।

स्याद्वाद मंजरी में कहा है कि - “जिसके होने पर उचित अनुचित के विवेक-विचार से रहित प्रवृत्ति हो, वह व्यसन कहलाता है।”

वसुनन्दि श्रावकाचार में इन व्यसनों को दुर्गति का कारण कहा है।

बुद्धिमान जनों को इन महापापरूप सातों व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिए। वे सात व्यसन इसप्रकार हैं - १. जुआ खेलना, २. माँस खाना, ३. मदिरापान करना, ४. वेश्या सेवन करना, ५. शिकार खेलना, ६. चोरी करना, ७. परस्त्री सेवन करना।

जुआ खेलने से महाराज युधिष्ठिर, माँस भक्षण में बक नामक राजा, मद्य पान करने से यदुवंशीय राजकुमार, वेश्यासंगम से चारुदत्त, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चोरी करने से शिवभूति और परस्त्री की अभिलाषा से रावण जैसे पुरुष भी विनष्ट हो गये। जब एक-एक व्यसन के कारण ही इन पुराण पुरुषों ने असह्य कष्ट सहे और दुर्गति प्राप्त की तो जो सातों व्यसनों में लिप्त हों, उनकी दुर्दशा का तो कहना ही क्या है? अतः

सातों व्यसन त्याज्य हैं।

व्यसनों में उलझना तो सहज है, पर एक बार उलझने के बाद सुलझना महादुर्लभ हो जाता है, इनको एक बार पकड़ने पर ये पकड़ने वाले को ऐसा जकड़ते हैं कि जीते जी छूटना संभव नहीं रहता। बस यही इनका व्यसनपना है।

-- -- --

बुरी प्रवृत्तियों की जब ऐसी आदत पड़ जावे कि राजदण्ड-लोकनिन्दा व सामाजिक बहिष्कार की स्थिति आ जाने पर भी न छोड़े जा सकें, तब वे पाप कार्य व्यसन बन जाते हैं और जो पापकार्य अज्ञानदशा में हो जाने पर भी माता-पिता, गुरुजन के उपदेश से या परभव के भय से छूट जाते हैं, वे पाप की सीमा में ही रहते हैं, व्यसनों की श्रेणी में नहीं आते।

हे भव्य! रात्रि भोजन में प्रत्यक्ष में ही भारी दोष दृष्टिगोचर होते हैं, उन पर गंभीरता से विचार करके रात्रि भोजन का त्याग करो। रात्रि भोजन से इहभव में तो हम नाना बीमारियों से बचेंगे ही, पुनर्जन्म में भी सभी प्रकार के उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति होगी।

जो व्यक्ति रात्रि में भोजन करता है, उसके निमित्त से रात्रि में भोजन बनाना भी पड़ता है और रात्रि में भोजन बनाने से दिन की अपेक्षा अनेक गुणी अधिक हिंसा होती है; क्योंकि रात्रि में सूक्ष्म जीवों का संचार अधिक होता है, दिन में जो जीव-जन्तु सूर्य के प्रकाश व प्रपात के कारण सोये रहते हैं, घर के अँधेरे कोने में बैठे रहते हैं, वे सूर्यास्त होते ही अपना भोजन ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ते हैं। इधर-उधर संचार करते हुए कीड़े-मकोड़े एवं उड़नेवाले सूक्ष्म जीव हमें रात में सहजता से दिखाई नहीं देते। उनमें से बहुत कुछ दिख भी जाते हैं।

बिजली के बल्बों पर, ट्यूबलाइटों पर एवं दीपक आदि के ऊपर पतंगा आदि को उछलते-गिरते पड़ते और मरते किसने नहीं देखा? सूर्यास्त होने पर मच्छरों का तो बोलबाला होता है, उससे तो बच्चा-बच्चा परिचित है

ही। जहाँ देखो, वहीं ढेरों मच्छर भिन्न-भिनाते मिल जायेंगे।

रात्रि में भोजन बनाने के लिए जो आग जलाई जाती है, उससे आकर्षित होकर भी छोटे-छोटे जीव-जन्तु भोजन-सामग्री में गिरते-पड़ते रहते हैं। उन सबके घात से हिंसा जैसा महापाप तो होता ही है, अनेक शारीरिक भयंकर व्याधियाँ बीमारियाँ भी हो जाती हैं।

कीड़ी (चीटी) बुद्धिबल को क्षीण करती है, कसारी नामक कीड़ा कम्प रोग पैदा करता है, मकड़ी से कुष्ठ रोग होता है। रात्रि में भोजन बनाते एवं खाते समय इनके गिर जाने की अधिक संभावना है, अतः रात्रि भोजन त्याज्य है।

जूँ नामक कीड़ा, जो बालों में होता है, उसके पेट में चले जाने से जलोदर नामक रोग हो जाता है। गले में फाँस लगी हो - ऐसी पीड़ा होती है। यदि पेट में बाल चला जाये तो कंठ का स्वर भंग हो जाता है। मक्खी पेट में जाते ही वमन (उल्टी) हो जाती है। यदि बिच्छू पेट में पहुँच जाये तो तालू में छेद हो जाता है। ये तो रात्रि भोजन के प्रगट दोष हैं; इनके अतिरिक्त और भी बहुत दोष हैं, जिनका वर्णन यथास्थान है ही।

इतना ही नहीं और भी अनेक पदार्थ हैं, जो रात्रि भोजन में सहज ही हमारे खाने-पीने में आ जाते हैं और हमारी मौत के कारण बन जाते हैं।

जिसप्रकार कमल पुष्प सूर्य प्रकाश में ही खिलता है, विकसित होता है, प्रफुलित होता है, उसीप्रकार उदर स्थित कमल नाड भी अर्थात् आहार थैली भी सूर्यप्रकाश में पूर्णतः खुली और सक्रिय रहती है तथा सूर्यास्त होते ही कमल के फूल की भाँति ही उदर स्थित कमल नाड (आहार थैली) भी संकुचित हो जाती है, निष्क्रिय हो जाती है।

-- -- --

पशु दो प्रकार के होते हैं एक - दिन भोजी, दूसरे - रात्रि भोजी। उनमें एक विशेषता यह होती है कि जो रात में खाते हैं, वे दिन में नहीं खाते और जो दिन में खाते हैं वे रात में नहीं खाते। वे अपने नैसर्गिक (प्राकृतिक)

नियमों का लोप नहीं करते। पर यह समझ में नहीं आता कि इस मनुष्य को किस श्रेणी में रखा जाय, जो दिन में भी खाता है और रात्रि में भी?

आयुर्वेद व शरीर विज्ञान के नियमानुसार मानव को सोने के ४-५ घंटे पहले भोजन कर ही लेना चाहिए, तभी वह स्वस्थ रह सकता है। खाकर तुरन्त सो जाने से पाचन नहीं होता, जिससे अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। अहिंसा धर्म का पालन करने की दृष्टि से भी जैन व जैनेत्तर सभी शास्त्रों में रात्रि भोजन के त्याग पर बहुत जोर दिया जाता है।

अहिंसाव्रतं रक्षार्थं, मूलव्रत विशुद्धये।

निशायां वर्जयेत भुक्तिं, इहामुत्रच दुःखदाम्॥

अहिंसाव्रत की रक्षा और आठ मूलगुणों की निर्मलता के लिए तथा इस लोक संबंधी रोगों से बचने के लिए एवं परलोक के दुःखों से बचने के लिए रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

जो जिह्वा लोलुपी पुरुष रात्रि में भोजन करते हैं, वे लोग न तो भूत, पिशाच और शाकनी-डाकनियों के दुष्प्रभाव से बच सकते हैं और न नानाप्रकार की व्याधियों से ही बच सकते हैं; क्योंकि रात्रि में भूत-पिशाचों का भी संचार होता है और जीव-जन्तुओं का भी, जिनके कारण बीमारियाँ पनपती हैं।

रात्रि भोजन त्याग की महिमा प्रदर्शित करते हुए कहा है कि जो पुरुष रात्रि भोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छह माह के उपवास का फल प्राप्त करता है; क्योंकि वह रात्रि में आरंभ का त्याग करता है।

जो जिनधर्मी होकर रात्रि में भोजन करते हैं, उसके द्वारा आगामी परम्परा तो बिगड़ती ही है, संतान पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है तथा रात्रि में चूल्हा-चक्की के आरंभ से चौके की सफाई, बर्तनों के धरने-उठाने, धोने-मांजने आदि घोर कर्म करने से भारी हिंसा भी होती है - ऐसे तीव्र रागी और घोर हिंसक कर्म करनेवालों को जैनकुल में जन्म लेने का कोई लाभ नहीं मिलता।

अरे भाई! रात्रि भोजन में धर्म की हानि, स्वास्थ्य की हानि एवं लोकनिंदा

तथा सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन जैसे अनेक दोष होने पर भी यदि तू रात्रि में ही खाने का दुराग्रह रखता है, सो ऐसा काम तीव्रराग के बिना संभव नहीं है और तीव्र राग स्वयं अपने आप में आत्मघात होने से भाव हिंसा है। जैसे अन्न का ग्रास व मांस का ग्रास समान नहीं है, उसीतरह दिन का भोजन व रात्रि का भोजन करना समान नहीं है। रात के भोजन में अनुराग विशेष है, अन्यथा बिना राग के इतना बड़ा खतरा कोई क्यों मोल लेता?

जब दिन में भोजन करना ही स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन जीने के लिए पर्याप्त है तो रात्रि में भोजन का हठाग्रह क्यों? जो रात में भोजन करता है, उसके व्रत, तप, संयम कुछ भी संभव नहीं है।

रात्रि भोजन का सबसे बड़ा एक दोष यह भी है कि इस काम में ही महिलाओं को रात के बारह-बारह बजे तक उलझा रहना पड़ता है। इससे खाने वालों के साथ बनाने वाली माता-बहिनों को धर्मध्यान, शास्त्रों का पठन-पाठन, तत्त्वचर्चा, सामायिक, जाप्य आदि सब कुछ छूट जाता है। इसकारण जैनधर्म के धारक रात्रि में भोजन नहीं करते - ऐसी ही सनातन रीति अब तक चली आई है।

जो मनुष्य मद्य पीते हैं, मांस खाते हैं, रात्रि को भोजन करते हैं एवं जमीकन्द खाते हैं, उनके साथ जप-तप तीर्थयात्रादि करना व्यर्थ है।

श्रावक को अहिंसा व्रत का पालन करने के लिए रात्रि भोजन त्याग भी अवश्य करना चाहिए। रात्रि भोजन त्याग के बिना अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा नहीं हो सकती; क्योंकि रात्रि में हिंसा अवश्यंभावी है।

रात्रि भोजन त्याग की चर्चा छठवीं प्रतिमा में भी आती है, वहाँ रात्रि भोजन के सम्पूर्ण अतिचारों से रहित एवं कृत कारित अनुमोदना भी न करने की बात है। सामान्य रात्रि भोजन का त्याग तो अष्ट मूलगुणों में ही हो जाता है।

स्पर्शन, रसना एवं घ्राण इन्द्रियों के विषय में अनुराग रखने वाले

मनुष्यों को जो इनके सेवन से मानसिक तृप्ति होती है, उसे काम कहते हैं।

--

--

--

हे भव्य सुनो! अब आगे विज्ञान के युग में वस्त्र से छने जल की उपयोगिता और अधिक बढ़ेगी। न केवल जैन, अन्यमत वाले भी छना (निर्जन्तुक) पानी पीयेंगे; क्योंकि सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से भी सिद्ध हो जायेगा कि बिना छने पानी में चलते-फिरते असंख्य सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं। उन जीवों के उदर में जाने पर वे तो मरते ही हैं, अनेक उदर रोगों को भी उत्पन्न करते हैं। इसलिए जीव रक्षण और स्वास्थ्य-संरक्षण की दृष्टि से वस्त्रगालित जल पीना अत्यावश्यक होगा।

वस्त्रगालित जल में भी एक अन्तर्मुहूर्त के बाद पुनः सम्मूर्च्छन त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। एतदर्थ ब्रह्म नेमीदत्त छने और प्रासुक (गर्म) जल की अवधि का ज्ञान कराते हुए कहते हैं।

अच्छे प्रकार से मोटे सूती कपड़े से छाने गये जल में भी एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी के पश्चात् सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। प्रासुक किया हुआ (उबले हुए) जल की आठ प्रहर तक की मर्यादा है।

--

--

--

स्नान करने में, वस्त्र धोने तथा किसी भी वस्तु का प्रक्षालन करने में तत्काल का छाना हुआ पानी ही काम में लेना चाहिए; क्योंकि जो बिना छने पानी से स्नान आदि भी करते हैं, उनसे जीवों की हिंसा होती है।

इकहरे छन्ने से बैक्टिरिया तो छन जाते हैं; पर वायरस नहीं छनते और दुहरे मोटे सूती कपड़े के छन्ने से वायरस भी छन जाते हैं; अतः स्वस्थ रहने की दृष्टि से भी पानी सदा दुहरे व मोटे छन्ने से ही छानना चाहिए।

छने पानी पीने की प्रतिज्ञा लेनेवाला हिंसा के महापाप से तो बचता ही है साथ में सहज ही अनेक बीमारियों से एवं धोखाधड़ी के खतरों से भी बच जाता है।

इसतरह छने पानी से दयाधर्म के साथ स्वास्थ्य का लाभ भी मिलता है और जीवन भी सुरक्षित होता है। इन सबके साथ उसकी जो सामाजिक

प्रतिष्ठा बनती है, वह भी कोई कम नहीं है।

--

--

--

यह संसार का सुख सचमुच क्षणभंगुर है। अब तक इस राज्य को न जाने कितने राजा भोग चुके हैं। मैं इस उच्छिष्ट (जूठन) का उपभोग कर रहा हूँ। क्यों न मैं ही इसका त्याग कर आत्मा की साधना, परमात्मा की आराधना करके इन पुण्य-पाप कर्मों को तिलाञ्जलि देकर अन्य तीर्थंकरों की तरह अजर-अमर पद प्राप्त करूँ।

--

--

--

इस संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जिसे मैंने देखा न हो, छुआ न हो, सूँघा न हो और खाया न हो। ये जीव अपने पूर्वभवों में जिन पदार्थों का अनन्तबार उपभोग कर चुके हैं, उन्हें ही बार-बार भोगते हैं; फिर भी तृप्ति नहीं मिलती। वस्तुतः ये निःसार हैं, त्याज्य हैं।

--

--

--

जो हिंसा-झूठ-चोरी आदि पापों के दुष्परिणाम पर ध्यान ही नहीं देता और इन्द्रियों के विषय जो प्रत्यक्ष आकुलता के जनक हैं, उन्हें सुख समझकर भोग रहा है, उसके लिए विचारणीय यह है कि - ये भोग भुजंग के समान दुःखद हैं। अतः जिस धर्म साधना से पुण्य और पाप दोनों कर्म बन्धनों का अभाव होकर अविनाशी और निराकुल सुख मिलता है, उसे ही शीघ्र धारण क्यों न करूँ?

--

--

--

जब-जब जिस पाप प्रवृत्ति का बाहुल्य होता है, तब-तब आचार्य उस प्रवृत्ति का त्याग कराने के लिए उनके त्याग को मूलगुण की कोटि में सम्मिलित कर लेते हैं; क्योंकि उन स्थूल पाप प्रवृत्तियों को त्यागे बिना सम्यग्दर्शन की पात्रता भी नहीं आती।

--

--

--

जहाँ हिंसा के त्याग का नियम ले लिया गया हो, वहाँ कोई हिंसा के आयतनरूप रात्रि भोजन, अनछना जल आदि का उपयोग भी कैसे कर

सकता है? अतः अन्य मनीषियों द्वारा प्रतिपादित विविध मूलगुण भी इन्हीं में अन्तर्गर्भित हैं और आगे भी होते रहेंगे।

यह तो जैनों की परम्परागत चली आयी कुल की मर्यादा है कि किसी भी जैनकुल में कभी भी मद्य-मांस-मधु एवं पंच-उदुम्बर फलों का सेवन नहीं होता; फिर भी यह जो अष्ट मूलगुण धारण करने-कराने का उपदेश दिया गया है, उसका मूल कारण यह है कि परम्परागत चली आई वह सुरीति आगे भी अखण्डितरूप से चलती रहे। भूल से भी कभी कोई इस मर्यादा का उल्लंघन न करे। इस भावना से ही इनका प्रतिपादन होता रहा है।

आज तक जो जैनों में मद्य-मांस-मधु व अभक्ष्य-भक्षण नहीं है, वह शास्त्रों के इन्हीं उपदेशों का सुपरिणाम है। यदि यह उपदेश इतने सशक्तरूप में जिनवाणी में न होता तो निश्चित ही जैन समाज में इन दुर्व्यसनों का कभी न कभी, कहीं न कहीं प्रवेश अवश्य हो गया होता।

भले ही अबतक जैनकुल में परम्परागत कोई मांस-मद्य खाता-पीता ना हो; फिर भी उसके खतरे से सावधान करने हेतु भक्ष्य-अभक्ष्य, खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय की चर्चा तो सदैव अविरलरूप से चलती ही रहना चाहिए। चर्चा से सम्पूर्ण वातावरण प्रभावित होता है। जो दुर्भाग्यवश इन दुर्व्यसनों में फंस गये हैं, उन्हें उससे उबरने का मार्ग मिल जाता है और जो अब तक बचे हैं वे भविष्य के लिए सुरक्षित हो जाते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के प्रभाव से एवं पंचसितारा (फाइव स्टार) होटलों के प्रताप से धनिक नवयुवकों में तो मद्य एवं मांस के सेवन की शुरूआत हो ही रही है। ऐसी स्थिति में उन्हें सदाचारी जीवन जीने का मार्गदर्शन देने की एवं ऐसा ही अहिंसक तथा सदाचारी वातावरण बनाने की महत्ती आवश्यकता है।

जो व्यक्ति इन अखाद्य-भोजन और अपेय-पान को हृदय से बुरा

मानते हैं, वे इन्हें खाते-पीते हुए भी समाज और परिवार से मुँह छिपाते हैं, शर्म महसूस करते हैं, खेद प्रगट करते हैं, वे स्वयं अपराध बोध अनुभव करते हैं; अतः उन्हें तो फिर भी सुलटने के अवसर हैं; पर जो लोग इसे सभ्यता और बड़प्पन की वस्तु मान बैठे हैं; उनकी स्थिति चिंतनीय रहेगी। ऐसे लोगों को मद्य-मांसादि के सेवन से होनेवाली हानियों का यथार्थ ज्ञान हो तथा उनके हृदय में करुणा की भावना जगे, उनमें मानवीय गुणों का विकास हो, वे सदाचारी बने; एतदर्थ भी इसकी सततचर्चा आवश्यक है।

१. सभी प्रकार की मादक वस्तुओं का त्याग, २. रात्रि में आहार का त्याग, ३. कंदमूल का त्याग, ४. बिना छने जलपान का त्याग, ५. अपेय एवं अखाद्य पदार्थों का त्याग, ६. जुआ आदि सप्त व्यसनों का त्याग, ७. द्विदल आदि अभक्ष्य-भक्षण का त्याग, ८. सामान्य स्थिति में प्रतिदिन देवदर्शन और सुबह-शाम स्वाध्याय करने का नियम, ९. वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसामय धर्म में दृढ़ श्रद्धा रखना। ये सब जैनधर्म के प्रारंभ के आचार-विचार हैं। इनके बिना मोक्षमार्ग में आने की पात्रता भी संभव नहीं है।

मद्य कामोत्तेजक होती है, इसे पीनेवाला कामासक्त हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह अन्याय-अनीति रूप क्रियायें करने लगता है। इससे उसे संसार में सदा संक्लेश और दुःख ही दुःख उत्पन्न होता है। मद्यपान करनेवाले की प्रतिष्ठा तो धूल-धूसरित होती ही है, स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। मद्यपायी का कोई विश्वास नहीं करता, वह कोई बड़े काम नहीं कर पाता।

मद्यपान से मनुष्य की क्रान्ति, कीर्ति, बुद्धि और सम्पत्ति क्षणमात्र में विनाश को प्राप्त हो जाती है। मद्य मन को मोहित करती है, मोहित मनवाला धर्म को भूल जाता है अतः मद्यपान हर दृष्टि से त्याज्य हैं।

यह जीव दर्शन मोह और चारित्र मोह के कारण मन-वचन-काय की विपरीत प्रवृत्ति से कर्मों को बाँधकर उनसे प्रेरित हुआ दुखद संसार में भव में भ्रमण करता हुआ दुःख भोगता है। दैवयोग से कदाचित् काललब्धि एवं भली होनहार से दुर्लभ मानव पर्याय पालता है, वहाँ भी मोहित हुआ पर स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करता हुआ दुर्व्यसन सेवन करता है।

-- -- --

दया दो प्रकार की है - १. स्वदया और २. परदया। लोग परदया को ही दया जानते हैं, उनकी दृष्टि स्वदया की ओर जाती ही नहीं, जबकि परदया से पुण्य होता है और स्वदया से धर्म।

भूख से, प्यास से अथवा अन्य किसी भी दुःख से दुःखी जीवों को देखकर जो स्वयं दुःखी होकर उनके दुःखों को दूर करना चाहता है, उसके उस मिश्रित शुभभाव को सामान्यतया दया या अनुकम्पा कहते हैं।

सर्व प्राणियों के प्रति उपकार बुद्धि रखना, मैत्रीभाव रखना, द्वेषबुद्धि छोड़कर मध्यस्थभाव रखना भी दया है, अनुकम्पा है; किन्तु यह भी परदया ही है। दया या अनुकम्पा के शास्त्रों में तीन भेद किए हैं -

‘अनुकम्पा-त्रिप्रकारा-धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पाचेति।’

परदया तीन प्रकार की है - प्रथम - सकल संयमी मुनिराजों के प्रति जो दयाभाव आता है, वह **धर्मानुकम्पा** है। दूसरी-देशव्रती संयतासंयत नैष्ठिक श्रावकों के प्रति उत्पन्न हुए अनुकम्पा के भावों को **मिश्रानुकम्पा** कहते हैं और तीसरी प्राणीमात्र पर जो दयाभाव होता है, उसे **सर्वानुकम्पा** कहते हैं।

सर्वानुकम्पा को विस्तार से समझाते हुए कहते हैं कि - गूँगे-बहरे, लूले-लंगड़े, अंधे-कोड़ी, दीन-निर्धन, रोगी और घायल व्यक्तियों को देखकर, विधवा, अनाथ, असहाय, अबला और सताई हुई नारियों को देखकर, लुटे-पिटे, चीत्कार करते, रोते-बिलखते आर्तनाद करते, सुरक्षा की भीख माँगते मानवों को देखकर, भूखे-प्यासे, तड़फते, भयाक्रान्त पशु-

पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों को देखकर तथा सबल पशुओं द्वारा निर्बल पशुओं को जीवित निगलते देखकर, मछलियों, मुर्गे-मुर्गियों व भेड़-बकरियों को धीवरों व कसाइयों के हाथों निर्दयता पूर्ण व्यवहार करते देखकर जो हृदय में करुणा का स्रोत प्रवाहित होता है, दिल दहज जाता है, मन रो पड़ता है, इसतरह से उन दुःखी प्राणियों की सहायता करने की तीव्र भावना होती है, उस भावना को **सर्वानुकम्पा** कहते हैं।

सर्वानुकम्पा से सामान्य-पुण्यबन्ध होता है और मिश्रानुकम्पा व धर्मानुकम्पा सातिशय (विशेष) पुण्यबन्ध की कारण है।

-- -- --

जिनके हृदय में जीवों के प्रति दयाभाव नहीं है, उनके हृदयों में धर्म कैसे ठहर सकता है। यह दयाभाव धर्मरूप वृक्ष का मूल है। इसका सर्वव्रतों में प्रथम स्थान है।

स्व-दया अर्थात् अपने दुःख देखकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर, इनमें भेदज्ञान करके कांटे की तरह चुभनेवाली माया-मिथ्या-निदान, त्रिशल्यों का त्याग कर निष्कषाय हो जाना ‘स्वदया’ है।

इस सबमें स्व-अनुकम्पा ही सर्वश्रेष्ठ अनुकम्पा है, क्योंकि पर-अनुकम्पा तो अज्ञानदशा में भी अनंतबार की, पर स्वअनुकम्पा हमने आज तक नहीं की, अन्यथा आज हम इस दुःखद स्थिति में नहीं होते; क्योंकि स्वदया निर्बन्ध दशा प्रगट करने की कारण है।

-- -- --

ध्यान रहे, यह स्व-अनुकम्पा मिथ्यात्व शल्य निकले बिना उत्पन्न ही नहीं होती; क्योंकि मिथ्यात्व से आत्मा में पर-पदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्ट रूप मिथ्या कल्पनायें उत्पन्न होती हैं। मिथ्या-कल्पनाओं से राग-द्वेषादि भावों से आत्मा कर्मों से बंधता है और कर्मबन्धन से संसार परिभ्रमण होता है।

स्व-अनुकम्पा के अभाव में ही यह जीव अनादि से संसार-सागर में गोते खा रहा है। यदि हमें वस्तुतः संसार के सुख दुःखरूप लगे हों, संसार में

भटकते-भटकते थकान महसूस होने लगी हो तो पर-दया के साथ-साथ स्वदया भी करनी ही होगी।

जो स्वयं दुःखरूप हो वह दया-पुण्यरूप तो होती है, पर उस दया से धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो सुखस्वरूप है, वीतरागभावरूप है, जबकि दयाभाव दुःखरूप है, रागरूप है। यद्यपि पर दया करना भी प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है, पर उसे धर्म की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। 'दया धर्म का मूल है' इस उक्ति का भी यही अर्थ है कि दयाधर्म नहीं, धर्म का कारण है, धर्म के पहले दया भाव होता ही है।

जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों के घात होता हो या बहुत स्थावर जीवों का घात होता हो तथा जो पदार्थ भले पुरुषों के सेवन करने योग्य न हो या नशाकारक अथवा अस्वास्थ्य कर हों, वे सब अभक्ष्य हैं। इन अभक्ष्यों को पाँच भागों में बाँटा जाता है।

१. त्रसघात, २. बहुघात, ३. अनुपसेव्य, ४. नशाकारक, ५. अनिष्ट।

जिनागम में २२ अभक्ष्य पदार्थों को विशेष नामोल्लेखपूर्वक त्यागने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि उनके सेवन से अनंत त्रसजीवों की हिंसा है।

चना, उड़द, मूँग, मसूर, अरहर आदि सभी प्रकार के दो दल वाले अनाजों को दही, छाछ (मट्ठा) में मिलाकर बनाये गये कड़ी, रायता, दही बड़ा आदि को खाना द्विदल अभक्ष्य है।

दो दल वाले सभी अनाज भक्ष्य हैं, खाने योग्य हैं और मर्यादित दही व छाछ भी भक्ष्य है, तथापि इनको मिलाकर खाने से यह अभक्ष्य हो जाते हैं, क्योंकि दालों और दही छाछ के मिश्रण से बने पदार्थों का लार से संयोग होने पर तत्काल त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। अतः इनके खाने में मांस का आंशिक दोष (अतिचार) है।

‘काकचेष्टा वकोध्यानं, श्वाननिद्रातथैव च ।
अल्पाहारी गृहत्यागी, विद्यार्थी पंचलक्षणम् ॥

विद्याध्ययन में सफलता पाने हेतु विद्यार्थी के पाँच लक्षण बताये हैं - कौए के समान सक्रिय चेष्टा, बगुले की तरह ध्यान में एकाग्रता, कुत्ते की भाँति कच्ची नींद, भूख से कम खाना और गृह अर्थात् माता-पिता से मोह-ममत्व का त्याग होना जरूरी है, अन्यथा विद्यार्थी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता।

जब तक औदयिकभाव रहता है, तब तक आत्मा को संसार भ्रमण करना पड़ता है और औदयिकभाव तबतक रहते हैं जब तक कर्म रहते हैं और उनके कारण मिथ्यात्व आदि भाव रहते हैं; अतः मिथ्यात्वादि ही संसार के मूल हैं। मिथ्यात्व को स्थूल नष्ट किए बिना अन्य कारणों का अभाव हो ही नहीं सकता। यही सब पापों का बाप है।

जैनदर्शन में मिथ्यात्व को सर्वाधिक अहितकारी और सम्यक्त्व को परम हितकारी बताया है।

तीनों लोकों व तीनों कालों में प्राणियों को सम्यग्दर्शन के समान कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है।

इस जीव का तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान कोई आत्मबन्धु नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई दुःखदायक शत्रु नहीं है; इसलिए मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व को अंगीकार करो। यही आत्मा को कुमार्ग से बचानेवाला है।

मिथ्यात्वभाव से ही सब पापों का जन्म होता है; अतः इसे सब पापों का बाप कहा जाता है और सम्यक्त्व ही धर्म का मर्म है, धर्म का मूल है, इसकारण इसे मोक्ष का मूल कहा जाता है।

मिथ्यात्व का अर्थ है - आत्मा छह द्रव्य, साततत्त्व और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के संबंध में उल्टी समझ, विपरीत मान्यता और सम्यक्त्व का अर्थ है इनके संबंध में सच्ची समझ, यथार्थ मान्यता।

इस संसार में एकमात्र सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान व चारित्र का बीज है, इष्ट पदार्थ की सिद्धि है, परम मनोरथ है, अतीन्द्रिय सुख है और यही कल्याणों की परम्परा है - ऐसे सम्यग्दर्शन के स्वरूप का कथन करते हुए कहा गया है कि शुद्धजीव का साक्षात् अनुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा जीवादि सातों तत्त्वों की तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

-- -- --

जैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, वैसा मानना तथा जैसा है वैसा नहीं मानना - ऐसे विपरीत अभिप्राय सहित देव-शास्त्र-गुरु आत्मा एवं छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि प्रयोजनभूत पदार्थों के विषय में अन्यथा प्रतीति ही मिथ्यादर्शन है।

-- -- --

भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि - मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि इसी के कारण सब पापों की परम्परा चलती है। इसी विपरीत मान्यता या उल्टी समझ के कारण पर-पदार्थों में कर्तृत्व एवं इष्ट-अनिष्ट की मिथ्याकल्पना होती है, उसमें राग-द्वेष का जन्म होता है, राग-द्वेष से कर्मबन्ध होकर संसार में जन्म-मरण का दुःख होता है।

-- -- --

यद्यपि विद्वान लोग स्त्री पर्याय को निन्द्य बताते हैं, महिलाएँ ऐसा अनुभव करती हैं कि उनके तीनोंपन पराधीनता में ही बीतते हैं। पहले पिता के आधीन, फिर पति के आधीन और अन्त में पुत्र के आधीन, पर उन्हें अपने अन्दर ऐसी हीन भावना नहीं रखना चाहिए; क्योंकि वे महिलायें ही जब तीर्थकर तुल्य महा भाग्यवान पुत्रों को जन्म देती हैं तो वे जगत माता बन जाती हैं तथा वस्तुस्वभाव की ओर से देखें तो भगवान आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक। जो भी अवसर मिला है, उसे सार्थक करते हुए स्त्री पर्याय को उच्छेद करने का प्रयत्न करें।

-- -- --

भगवान महावीर को मुक्त हुए मात्र साधिक ढाई हजार वर्ष ही हुए हैं और उनकी दिव्यध्वनि का सम्पूर्ण सार हमें आचार्यों द्वारा प्राप्त है। इस अपेक्षा विचार करो तो चौथे काल के जीवों को तीर्थकरों का कितना भारी अन्तराल झेलना पड़ा। उस लम्बेकाल तक जिनवाणी की अविच्छिन्न धारा संभव ही नहीं थी; अतः हमें इस मनुष्यपर्याय में किसी पन्थवाद के पक्षपात में न पड़कर तथा धर्मक्षेत्र में राजनीति की चालबाजियाँ न चलाकर सीधे-सरल ढंग से जिनवाणी के रहस्य को समझकर अपना मानव जन्म सफल कर लेना चाहिए।

सुख का समय बीतते पता नहीं चल पाता और दुःख का एक पल पहाड़-सा लगता है। अतः सुखद-अनुकूलता में अपना कार्य शीघ्र साध लेना चाहिए।

-- -- --

कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है। न ज्ञानमात्र है और न शून्यरूप ही है; किन्तु प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति रूप अनेक धर्मोवाली है। आत्मा है; क्योंकि उसमें ज्ञान का सद्भाव है। आत्मा पुनर्जन्म लेता है; क्योंकि उसे पूर्व पर्याय का स्मरण होता है, संस्कार भी पूर्वजन्म के अगले जन्म में जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है; क्योंकि उसके ज्ञान में वृद्धि होते देखी जाती है।

-- -- --

हे भव्य ! एकद्रव्य से दूसरा द्रव्य जुदा है। एक द्रव्य में रहनेवाले अनंतगुण भी जुदे-जुदे हैं, परंतु दो द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है और एक द्रव्य के गुणों में परस्पर अतद्भाव है।

-- -- --

अनादिकालीन मिथ्यात्व के उदय से दूषित हुआ यह आत्मा स्वयं अपने ही कारण अपने आत्मा को दुःख में डाले हुए है तथा भूताविष्ट पुरुष की भाँति अविचारी हो रहा है। यह प्राणी मिथ्यामान्यता के वश अनादिकाल से स्वयं ही अहितकारी कार्यों में आचरण करता आ रहा है। संसाररूपी

अटवी में भटकता हुआ मोक्षमार्ग में भ्रष्ट हो गया है।

-- -- --

तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि इस महामंत्र के संबंध में समय-समय पर प्रचारित किंवदन्तियों एवं पौराणिक कथा-कहानियों से जहाँ एक ओर जैनजगत में इस महामंत्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है, जिज्ञासा जगी है; वहीं दूसरी ओर अंधविश्वास एवं भ्रान्त धारणायें भी कम प्रचलित नहीं हुईं। इन भ्रान्त धारणाओं एवं अंधविश्वासों के निराकरण के लिए इस महामंत्र के सही स्वरूप का एवं प्रचलित कथा-कहानियों का यदि अभिप्राय समझकर अनुशीलन/परिशीलन किया जायेगा तो ही सही समाधान होगा।

-- -- --

लौकिक कार्यों की सिद्धि हो जाने से अलौकिक महामंत्र की महिमा कैसे बढ़ सकती है? अरे भाई! लौकिक कार्यों की सिद्धि तो पुण्य के प्रताप से होती है, सीधे मंत्रों के जाप जपने से नहीं। हाँ, यदि निष्कामभाव से मंत्र जपते हुए कषायें अत्यन्त मंद रहें तो पुण्यबंध होता है; पर ज्ञानी उसे भी उपादेय नहीं मानते, उसके फल में लौकिक कामनायें नहीं करते। लौकिक कामनाओं से तो उल्टा पाप बंध ही होता है; क्योंकि कामनायें तो तीव्र कषाय में ही संभव हैं।

-- -- --

पौराणिक कथायें पौराणिक होती हैं, न कल्पित न मिथ्या; परन्तु प्रथमानुयोग के प्रयोजन व कथन पद्धति को न समझनेवाले उन कथाओं के कथन का प्रयोजन व अभिप्राय ग्रहण न करके अर्थ का अनर्थ करते अवश्य देखे जाते हैं।

-- -- --

आयु कर्म भी अचेतन है, जड़ है, वह भी जीव को जीवनदान देने में समर्थ नहीं है। वह उन चार निमित्तों की तरह ही है। वास्तविक बात तो यह है कि उस मरीज के उपादान की योग्यता ही ऐसी थी कि जिसे-जहाँ जब

तक जिन संयोगों में अपनी स्वयं की योग्यता से रहना था, तब तक उन्हीं संयोगों के अनुरूप उसे वहाँ उसी रूप में सब बाह्य कारण-कलाप सहज ही मिलते गये। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तो कुछ करता ही नहीं, द्रव्यों का समय-समय होनेवाला परिणमन भी स्वतंत्र है।

-- -- --

आयु कर्म का उदय भी एक निमित्त कारण ही है। निमित्त होते तो अवश्य हैं, पर वे कर्ता नहीं हैं। कार्य के समय उनकी उपस्थिति होती है; अतः कभी किसी को महत्त्व मिल जाता है और कभी किसी को। वक्ता के द्वारा जब जिसको जैसा मुख्य/गौण करना होता है, कर देता है। वास्तविक कारण तो जीव की तत्समय की योग्यता ही है।

“तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायश्चतादृशाः।

सहायतास्तादृशाः संति यादृशी भवितव्यता ॥

जीव का जिससमय जैसा-जो होना होता है, तदनुसार ही बुद्धि या विचार उत्पन्न हो जाते हैं। प्रयत्न भी वैसे ही होने लगते हैं, सहयोगियों में वैसे ही सहयोग करने एवं दौड़-धूप करने की भावना बन जाती है और कार्य हो जाता है; अतः कारणों के मिलाने की आकुलता मत करो।

-- -- --

जिसे वस्तु के स्वतंत्र परिणमन में श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, उसे आकुलता नहीं होती। भूमिकानुसार जैसा राग होता है, वैसी व्यवस्थाओं का विकल्प तो आता है, पर कार्य होने पर अभिमान न हो तथा कार्य न होने पर आकुलता न हो; तभी कारण-कार्य व्यवस्था का सही ज्ञान है - ऐसा माना जायेगा।

-- -- --

जब जो कार्य होना होता है, तब उसके अनुरूप सभी कारण कलाप मिलते ही हैं। कहने का अर्थ है कि एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं; किन्तु कथन किसी एक कारण की मुख्यता से किया जाता है, अन्य

कारण गौण रहते हैं।

--

--

--

जिसकी होनहार भली हो उसे तो एक के बाद एक अनुकूल निमित्त भी मिलते जाते हैं और उसके परिणामों में विशुद्धि आती जाती है, रुचि बढ़ती जाती है। निमित्त तो इसको पहले भी कम नहीं मिले और उन्होंने कितना समझाने की कोशिश की, पर कहाँ समझे? जब तत्त्वज्ञान हो जाता है तो कभी सत्साहित्य को श्रेय देते हैं, कभी अपने मित्र को धन्यवाद देते हैं, कभी अपने भाग्य को सराहते हैं तो कभी अपने गुरुजी की प्रशंसा करते हैं।

--

--

--

ये मनुष्य जीवन और यह ज्ञानियों के संयोग, यह प्राकृतिक सौन्दर्य, ये इन्द्रियों के भोग सब ओस की बूंदों की भाँति क्षण-भंगुर हैं।

जीव के ये हर्ष-विषाद के विभाव भाव भी क्षण-क्षण में पलट जाते हैं। इन परपदार्थों या परभावों के भरोसे रहना योग्य नहीं है। अपने स्थिर और असंयोगी आत्मतत्त्व का ही आलम्बन सारभूत है। शेष सब संयोग असार हैं, पुण्य के फलरूप विषयों में यदि सुख होता तो (मुझे) पुण्य की पराकाष्ठा रूप उत्कृष्ट सुख-सामग्री प्राप्त है, फिर भी मेरा मन संतुष्ट क्यों नहीं है?

--

--

--

वस्तुतः विषय सामग्री का सुख सुख है ही नहीं, यह तो दुःख का ही एक रूप है, मिठास लपेटी तलवार के समान है। आश्चर्य है कि सारा संसार इसमें सुख माने बैठा है।

--

--

--

जिसे अरहंत देव का पक्ष हो, जो मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र एवं वीतराग धर्म का ही पक्ष रखता हो, उसे पाक्षिक श्रावक कहते हैं।

जो श्रावक के बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है एवं न्यायपूर्वक आजीविका करता है, उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।

जो जीवन के अन्त में काय को कृष करने के लिए विषय-कषायों को क्रमशः कम करता हुआ आहार आदि सर्वारंभ को छोड़कर परम समाधि

का साधन करता है, वह साधक श्रावक है।

--

--

--

जिन आचार्यों ने श्रावक के मूलगुणों के वर्णन में अष्ट मूलगुणों की चर्चा नहीं की, उनकी दृष्टि में भी मद्य-मांस-मधु आदि प्रथम भूमिका में ही त्याज्य हैं, क्योंकि मूलगुण कहते ही उसे हैं, जिनके धारण बिना श्रावकपना ही संभव नहीं है। जो धर्मतत्त्व को स्वयं सुनता हो, जैनधर्म में पूर्ण श्रद्धा रखता हो तथा सदाचारी हो, उसे श्रावक कहते हैं।

--

--

--

पाक्षिक श्रावक किसी व्रत का पालन नहीं करता, इस कारण वह अव्रती है, पर जिनधर्म का पक्ष होने से वह श्रावक के मूलगुणों का पालन अवश्य करता है। मूलगुणों का पालन किए बिना तो कोई नाममात्र से भी श्रावक नहीं कहला सकता।

--

--

--

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित अष्ट मूलगुणों का धारी एवं सप्त व्यसन का त्यागी हो, उसे दार्शनिक श्रावक कहा गया है।

--

--

--

सावद्य का सामान्य अर्थ है हिंसाजनक प्रवृत्ति। यद्यपि पूजा एवं जिनमंदिर का निर्माण आदि कार्य भी सावद्य है, पर ये धर्म के सहकारी व आयतन होने से कथंचित् ग्राह्य कहे हैं; परन्तु जो लौकिक सावद्य व्यापार है, जिनमें बहुत जीवघात होता है, वे तो सर्वथा त्याज्य ही हैं।

--

--

--

मात्र इस णमोकार महामंत्र की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वीतरागी जैनदर्शन की भी यही महानता है कि वह कामनाओं की पूर्ति में नहीं, बल्कि कामनाओं के नाश में आनन्द मानता है; विषय भोगों की उपलब्धि में नहीं, उनके त्याग में आनन्द मानता है। जगत के सहज स्वाभाविक परिणामन को वस्तु का स्वभाव माननेवाले अकर्तावादी जैनदर्शन में चमत्कारों को कोई स्थान नहीं है। वीतरागी पंच-परमेष्ठियों के उपासक सच्चे जैन वीतरागी भगवान से

वीतरागता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते हैं - जैनदर्शन का यह परम सत्य ही इस महामंत्र में प्रस्फुटित हुआ है।

-- -- --

यह महामंत्र भौतिक मंत्र नहीं है, आध्यात्मिक महामंत्र है; क्योंकि उसमें आध्यात्मिक पराकाष्ठा को प्राप्त पंच परमेष्ठियों को स्मरण किया गया है; अतः इसकी महानता भी भौतिक उपलब्धियों में नहीं आध्यात्मिक चरमोपलब्धि में है।

मोह-राग-द्वेष के नाश करने के लिए यह णमोकार महामंत्र परमौषधि है, विषय वासनारूपी नाग के विष को उतारने के लिए यह नागदमनी जड़ी-बूटी है, भव-सागर से पार उतारने के लिए यह अद्भुत अपूर्व जहाज है। निजात्मा के ध्यान से च्युत होने पर एकमात्र शरणभूत यही महामंत्र है।

आत्मा के योग व उपयोग के स्वभाव सन्मुख हुए बिना, तत्त्वज्ञान हुए बिना, केवल मंत्रोच्चारण अधिक कार्यकारी नहीं होता; अतः णमोकार मंत्र के माध्यम से पंच-परमेष्ठी के स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो व्यक्ति अपने आत्मा में अपना उपयोग स्थिर करता है; वही इस मंत्र के असली लाभ से लाभान्वित होता है।

इस महामंत्र के स्मरण से समस्त लौकिक कामनाओं, सुख-समृद्धियों की पूर्ति होती है तथा परलोक से स्वर्गादि की सुख-सम्पदायें प्राप्त होती हैं; किन्तु वस्तुतः वह लौकिक विषय-कषाय जनित कामनाओं की पूर्ति का मंत्र नहीं; बल्कि उन्हें समाप्त करनेवाला महामंत्र है। वस्तुतः देखा जाय तो इस महामंत्र के विवेकी आराधकों के लौकिक कामनायें होती ही नहीं हैं, होना भी नहीं चाहिए; क्योंकि इसमें जिन्हें स्मरण व नमन किया गया है, वे सभी स्वयं वीतरागी; महान आत्मायें हैं, वे न किसी का भला-बुरा करते हैं, न कर सकते हैं।

मंत्र की आराधना के काल में संयोगवशात् जब किसी को लौकिक सुख-सामग्री या समृद्धि प्राप्त हो जाती है तो दोनों का समकाल होने से ऐसी

भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि यह समृद्धि इस मंत्र के प्रसाद से हुई है।

-- -- --

अपना हित चाहने वाले बुद्धिमान जीवों को विषयों की वासना तथा पापभाव छोड़कर मोक्ष सुख हेतु धर्म का सेवन करने की भावना होती है। तीर्थंकर का योग प्राप्त होने पर भी हृदय से विषयभोगों की शल्य नहीं छूटी तो त्रिखण्डाधिपति भी भयंकर दुर्गति को प्राप्त करते हैं इसलिये हे जीव! यदि तुझे धर्म का सुअवसर प्राप्त हुआ है तो अब तू विषयों में मत अटक! आत्मा के वीतरागी सुख का विश्वास करके उसकी साधना कर! सुखरूप से जीव स्वयं अपने आप ही परिणमता है, क्योंकि निराकुल सुख जीव का स्वभाव है।

-- -- --

अरे! यह पुण्य का ठाठ भी ओस बिन्दु और उल्कापात के समान क्षण भंगुर है। जिसप्रकार ओस बिन्दुओं पर महल नहीं बनाया जा सकता; उसीप्रकार पुण्य वैभव द्वारा कहीं आत्मशान्ति की साधना नहीं हो सकती।

-- -- --

सम्यक्त्व होने पर भी चारित्र अभी बहुत अल्प है, निर्जरा अभी अति अल्प है, जब तक चारित्र की पूर्णता नहीं होगी तब तक मुक्ति नहीं होगी।

-- -- --

इस संसार में प्रत्येक जीव अपने-अपने भावों का ही फल भोगता है। चाहे जैसे इन्द्रिय विषय हों; पर उनके सेवन से सुख नहीं मिलता। बल्कि उनसे तो मात्र पाप का ही बन्ध होता है।

-- -- --

प्रथम तो निगोद से निकलना ही भारी दुर्लभ है, फिर इस मनुष्य पर्याय का पाना, अच्छी बुद्धि, कषायों की मंदता, जिनवाणी का समागम, स्वास्थ्य की अनुकूलता आदि एक अत्यन्त दुर्लभ है।

-- -- --

भले ही किसी का क्षयोपशम कम हो या अधिक हो, जैसा भी कम-

अधिक से कोई फर्क नहीं पड़ता। शर्त यह है कि - अपनी सम्पूर्ण शक्ति वस्तुस्वरूप के विचार में, आत्मचिन्तन में और जिनवाणी के रहस्यों को जानने में, उसी की अनुप्रेक्षा में लगाना चाहिए। इस सम्पूर्ण समर्पण की भावना से आत्मा की उपलब्धि अवश्य होगी।

पारस के स्पर्श से तो मात्र लोहा ही सुवर्ण होता है, प्रभु के स्पर्श एवं आत्मा की अनुभूति से तो आत्मा परमात्मा बन जाता है।

-- -- --

जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों का घात होता हो या बहुत स्थावर जीवों का घात हो तथा जो पदार्थ भले पुरुषों के सेवन करने योग्य न हों या नशाकारक अथवा अस्वास्थ्य कर हों, वे सब अभक्ष्य हैं।

-- -- --

द्विदल के न खाने के विषय में जैनेत्तर ग्रन्थों में भी कहा है - हे युधिष्ठिर! गोरस के साथ जिन पदार्थों की दो दालें होती हैं, ऐसे उड़द, मूँग आदि के सेवन करने से मांस भक्षण के समान पाप लगता है। मूल कथन इसप्रकार है -

‘गोरसं मांस मध्ये तु, मुद्गादि तथैव च।

भक्ष्यमाणं कृतं नूनं, मांस तुल्यं युधिष्ठिरः ॥

-- -- --

इस जीव को शरीर के साथ का संबंध नित्य रहने वाला नहीं है। अनन्त शरीरों के साथ संबंध हुआ; किन्तु एक भी शरीर स्थायी नहीं रहा। सब पृथक् हो गये; क्योंकि शरीर का स्वभाव ही ऐसा है, जीव और शरीर तो पृथक् ही हैं; परन्तु अज्ञानी बहिरात्मा जीव ने देह और जीव को एक मान रखा है। इसीप्रकार पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयों का संबंध भी नित्य रहनेवाला नहीं है, सब संयोग क्षणभंगुर हैं। - ऐसा निश्चय करके समय रहते आत्मा स्वरूप जानो, धर्माचरण करो।

-- -- --

हे भव्य! आत्मा में एक ही नहीं, अपितु अनन्तधर्म एकसाथ विद्यमान हैं। एक ही समय में सत्पना और असत्पना; एकपना और अनेकपना; नित्यपना और अनित्यपना, ज्ञान और आनन्द, कर्तृत्व और अकर्तृत्व - ऐसे अनन्त धर्म किसी प्रकार के विरोध बिना आत्म वस्तु में एकसाथ विद्यमान हैं। यही वस्तु का स्वरूप है।

-- -- --

वस्तु में सर्वगुण-धर्म एक समान, तन्मयरूप से विद्यमान हैं, उनमें कोई गौण नहीं है। वक्ता अपने अभिप्राय के अनुसार जब उनमें से किसी एक को मुख्य करता है, उसी समय उसके ज्ञान में दूसरा पक्ष गौणरूप से विद्यमान रहता है, उनका निषेध नहीं है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप तथा उत्पाद-व्यय-ध्रुव-स्वरूप स्वाधीन है। उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में किसी का हस्तक्षेप नहीं है, अपने स्वाधीन स्वरूप को समझनेवाला जीव अपने-अपने धर्म स्वभावों से ही तृप्त रहता है।

-- -- --

जैनदर्शन के अनुसार छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। छह द्रव्यों में जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं आकाश द्रव्य एक-एक हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं। इन सभी द्रव्यों के समूहरूप यह विश्व अनादि-अनन्त, नित्यपरिणमनशील एवं स्वसंचालित है। इन द्रव्यों का परस्पर एक क्षेत्रावगाह संबंध होने पर भी ये सभी द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र हैं, स्वावलम्बी हैं। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं है। वस्तुतः इन द्रव्यों का परस्पर में कुछ भी संबंध नहीं है। इस विश्व को ही लोक कहते हैं। इसी कारण आकाश के जितने स्थान में ये छह द्रव्य स्थित हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। शेष अनन्त आकाश अलोकाकाश हैं।

-- -- --

हमारा तुम्हारा आत्मा भी एक स्वतंत्र स्वावलम्बी द्रव्य है, वस्तु है, परिणमनशील पदार्थ है। स्वभाव से तो यह आत्मद्रव्य अनन्तगुणों का समूह एवं अनन्तशक्ति सम्पन्न है, असीम सुख का समुद्र और ज्ञान का

अखण्डपिण्ड है; परन्तु अपने स्वभाव का भान नहीं होने से एवं पराधीन दृष्टि होने से अभी विभावरूप परिणमन कर रहा है; इसकारण दुःखी है।

--

--

--

द्रव्यों का पदार्थों के इस स्वतंत्र परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणति भी कार्य के ही नामान्तर हैं; पर्यायवाची नाम हैं।

--

--

--

सुख-दुःख, स्वभाव-विभाव रूप कोई भी कार्य हो, वह बिना कारणों से नहीं होता और एक कार्य के होने में अनेक कारण होते हैं। उनमें कुछ कारण तो समर्थ एवं नियामक होते हैं और कुछ आरोपित। आरोपित कारण मात्र कहने से कारण हैं, उनमें कार्य निष्पन्न नहीं होता। उनकी कार्य के निकट सन्निधि मात्र होती है। जैनदर्शन में इन कारणों की मीमांसा-निमित्त व उपादान के रूप में होती है।

ये निमित्त-उपादान कार्य की उत्पादक सामग्री के नाम हैं; अतः इन्हें जिनागम में कारण के रूप में वर्णित किया गया है। इन निमित्तोपादान कारणों का यथार्थ स्वरूप जाने बिना कर्ता-कर्म संबंधी निम्नांकित अनेक भ्रान्तियों के कारण हमें वीतराग धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है।

(अ) निमित्तोपादान को जाने बिना स्वावलम्बन का भाव जाग्रत नहीं होता। पराधीनता की वृत्ति समाप्त नहीं होती।

(आ) मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ स्फुरायमान नहीं होता।

(इ) निमित्त-उपादान के सम्यक् परिज्ञान बिना जिनागम में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था को भी सम्यक् रूप में समझना संभव नहीं है।

(ई) इनके सही ज्ञान बिना या तो निमित्तों को कर्ता मान लिया जाता है या निमित्तों की सत्ता से ही इन्कार किया जाने लगता है।

(उ) इनके यथार्थ ज्ञान बिना वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त एवं कार्य-कारण की स्वतंत्रता समझना सम्भव नहीं है। अतः इनका ज्ञान परम आवश्यक है।

(ऊ) निमित्तोपादान की यथार्थ समझ से तथा पर-पदार्थों के कर्तृत्व के अहंकार से उत्पन्न होने वाला कषाय चक्र सीमित हो जाता है, समता का भाव जाग्रत होता है।

(ए) आत्मा के सुख-दुःख में, हानि-लाभ या उत्थान-पतन में निमित्तरूप परद्रव्य का किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है तथा मेरा हिताहित दूसरे के हाथ में रंचमात्र भी नहीं है। ऐसी श्रद्धा के बिना स्वोन्मुखता संभव नहीं है तथा स्वोन्मुख हुए बिना आत्मानुभूति होना संभव नहीं है।

(ऐ) निमित्तों का यथार्थ स्वरूप जाने बिना निमित्तों को कर्ता माने तो श्रद्धा मिथ्या है तथा निमित्तों को माने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या है।

(ओ) निमित्तोपादान का स्वरूप समझने से दृष्टि निमित्तों पर से हटकर त्रिकाली उपादानरूप निज स्वभाव की ओर ढलती है, जो अपने देह-देवालय में विराजमान स्वयं कारण परमात्मा है। ऐसे कारण परमात्मा की ओर ढलती हुई दृष्टि ही आत्मानुभूति की पूर्व प्रक्रिया है।

(औ) जो द्रव्य पर-पदार्थों के परिणमन में निमित्त रूप हैं, वे सभी निमित्तरूप द्रव्य स्वयं के लिए उपादान भी हैं। उदाहरणार्थ - जो कुम्हार घट का कार्य का निमित्त है, वही कुम्हार अपनी इच्छारूप कार्य का उपादान भी तो है।

(अं) निमित्त व उपादान कारणों के अलग-अलग गाँव नहीं बसे हैं। जो दूसरों के कार्य के लिए निमित्त हैं, वे ही स्वयं अपने कार्य के उपादान हैं।

(अः) हाँ कारण, प्रत्यय, हेतु, साधन, सहकारी, उपकारी, उपग्राहक, आश्रय, आलम्बन, अनुग्राहक, उत्पादक, कर्ता, प्रेरक हेतुमत, अभिव्यंजक आदि नामान्तरों का प्रयोग भी आगम में निमित्त के अर्थ में हुआ है।

--

--

--

ज्ञानपर्याय जब पर और पर्याय से पृथक् त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को ज्ञेय बनाती हैं, तभी आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है, इसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन ही सुख-शान्ति प्राप्त करने का अमोघ-

उपाय है।

-- -- --

कार्य-कारण के अनुसार ही निष्पन्न होता है तथा कारणानुविधायीनि कार्याणि। जैसे - जौ से जौ ही उत्पन्न होते हैं। स्वर्ण से आभूषण ही बनते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव से ही उत्पन्न होते हैं, देव-शास्त्र-गुरु से नहीं। देव-शास्त्र-गुरु तो निमित्त मात्र हैं, वे सम्यग्दर्शनरूप कार्य के कारण नहीं हैं।

-- -- --

कार्योत्पत्ति के समय कार्य के अनुकूल संयोगी पदार्थों की अनिवार्य उपस्थिति होने से उन्हें आगम में भी कारण संज्ञा प्राप्त है। परन्तु वे संयोगी पदार्थ कार्य के अनुरूप या कार्यरूप स्वयं परिणमित न होने से उस कार्य के कर्ता नहीं हो सकते।

-- -- --

जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो अथवा जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न हो उसे उपादान कारण कहते हैं। पदार्थ की निज सहज शक्ति या मूल स्वभाव ध्रुव उपादान कारण है तथा द्रव्यों में अनादिकाल से जो पर्यायों का परिणमन हो रहा है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय एवं कार्योत्पत्ति के समय की पर्यायगत योग्यता क्षणिक उपादान कारण है। यह पर्यायगत योग्यता ही कार्य का समर्थ कारण है।

जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे त्रिकाली उपादान कारण कहते हैं। पदार्थ की निज सहजशक्ति या मूल स्वभाव ध्रुव या त्रिकाली उपादान है। जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है, वह त्रिकाली या ध्रुव उपादान कारण कहलाता है।

-- -- --

तात्कालिक या क्षणिक उपादान कारणों में जो अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य का व्यय प्रथम क्षणिक उपादान कारण है, उस कारण का अभाव करते हुए कार्य उत्पन्न होता है। अतः इस कारण को अभावरूप

नियामक कारण कहते हैं तथा कार्य होने की योग्यता रूप दूसरा क्षणिक उपादान कारण है, वही पर्याय योग्यता की अपेक्षा कारण एवं वही पर्याय परिणमन की अपेक्षा कार्य कही जाती है।

-- -- --

ध्रुव उपादान कारण स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है। जैसे - मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमित होती है। अतः घट कार्य का ध्रुव उपादान रूप नियामक कारण मिट्टी है। इसीप्रकार आत्मा अथवा श्रद्धाज्ञान एवं चारित्रगुण स्वयं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप परिणमता है; अतः आत्मा की इन पर्यायों या कार्यों का ध्रुव त्रिकाली उपादानरूप नियामक कारण आत्मा अथवा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र गुण है।

वस्तुतः तो पर्याय की तत्समय की योग्यता ही कार्य का नियामक और समर्थ कारण है; परन्तु तीनों ही उपादान कारणों को भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से नियामक कारण कहा गया है।

-- -- --

प्रत्येक कार्य (पर्याय) का त्रिकाली उपादान इस बात का नियामक है कि वह कार्य (पर्याय) अमुक द्रव्य या उसके अमुक गुण में ही होगी, अन्य द्रव्य में नहीं और उसी द्रव्य के अन्य गुण में भी नहीं। सम्यग्दर्शनरूप कार्य आत्मद्रव्य और उसके श्रद्धागुण में ही सम्पन्न होगा; पुद्गलादि द्रव्यों या आत्मा के ज्ञानादि गुणों में नहीं।

कार्य का दूसरा नाम पर्याय अर्थात् काल भी है, यही कारण है कि काल की नियामक तत्समय की योग्यता को कार्य का नियामक कारण भी कहा जाता है।

स्वभाव का नियामक त्रिकाली उपादान, विधि (पुरुषार्थ) का नियामक अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय से युक्त द्रव्य क्षणिक उपादान और काल का या कार्य का नियामक तत्समय की योग्यता क्षणिक उपादान रही।

-- -- --

ध्रुव उपादान को कार्य का समर्थ कारण इसकारण नहीं माना जा

सकता; क्योंकि उसके रहते हुए भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। यदि ध्रुव उपादान को समर्थ कारण मानेंगे तो कारण के रहते कार्य सदैव होते रहने का प्रसंग प्राप्त होगा।

-- -- --

यद्यपि त्रिकाली उपादान समर्थकारण नहीं है; परन्तु यह स्वभाव का नियामक है। जब भी कार्य होगा, तब इसी ध्रुव या त्रिकाली उपादान में से ही होगा; अन्य किसी द्रव्य में से नहीं होगा। इस अपेक्षा त्रिकाली द्रव्य को द्रव्यार्थिकनय से कार्य का नियामक कारण कहा है। यह नय सम्पूर्ण द्रव्य को ग्रहण करता है।

ध्रुव उपादान को कारण मानने से लाभ यह है कि साधक की दृष्टि अन्य अनन्त द्रव्यों पर से हटकर एक अपने त्रिकाली ध्रुव उपादान कारण का ही आश्रय करने लगती है। इसी अपेक्षा इसे आश्रयभूत कारण भी कहा जाता है। जब भी कार्य होगा, ध्रुव उपादान में ही होगा, इसकारण ध्रुव उपादान को उपचार से कारण कह दिया है।

-- -- --

रत्नत्रयस्वरूप कार्य प्रगट करने की भावनावाला व्यक्ति अन्य अनेक व्यवहार के विकल्पों में उलझे उपयोग को वहाँ से हटाकर अपने त्रिकाली आत्मद्रव्य का ही आश्रय लेने में लगाता है। यह प्रयोजन देखकर ही त्रिकाली उपादान कारण को उपचार से कारण कहा है।

-- -- --

पूर्वपर्याय के व्ययपूर्वक ही नवीन पर्याय का उत्पाद होता है। व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता। यह विधि या पुरुषार्थ का नियामक है। जब भी कार्य होगा तो इस विधिपूर्वक ही होगा - ऐसा नियम बताने के लिए पूर्व पर्याय के व्यय को कारण कहा जाता है।

-- -- --

यद्यपि उत्तर पर्याय का उत्पाद ही पूर्व पर्याय का व्यय है, इनमें वस्तुभेद व कालभेद नहीं है, तथापि आगम में ऐसी कथन पद्धति है कि नास्ति से

व्यय को अभावरूप कारण व अस्ति से उत्पाद को कार्य कहा जाता है।

-- -- --

शक्ति दो प्रकार की होती है - द्रव्यशक्ति और पर्यायशक्ति। इन दोनों शक्तियों का नाम ही उपादान है। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्याय शक्ति अनित्य। यद्यपि नित्यशक्ति के आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है; अतः पर्यायशक्ति को ही कार्य का नियामक कारण स्वीकार किया गया है। तथापि द्रव्यशक्ति यह बताती है कि यह कार्य इस द्रव्य में ही होगा, अन्य द्रव्य में नहीं और पर्यायशक्ति यह बताती है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होगा अतः न तो द्रव्यशक्ति महत्त्वहीन है और न पर्यायशक्ति ही; दोनों का ही महत्त्व है। पर ध्यान रहे काल की नियामक पर्यायशक्ति ही है। काल का दूसरा नाम भी पर्याय है। यह पर्यायशक्ति अनन्त पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के व्यय रूप एवं तत्समय की योग्यतारूप होती है। अतः इन दोनों की ही क्षणिक उपादान संज्ञा है। इसीलिए क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कहा गया है।

यदि त्रिकाली उपादान को भी शामिल करके बात कहें तो इसप्रकार कहा जायेगा कि पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य शक्ति कार्यकारी है, पर इसमें भी नियामक कारण के रूप में तो पर्यायशक्तिरूप क्षणिक उपादान ही रहा।

यदि निमित्त को भी इसमें शामिल करके बात करनी है तो इसप्रकार कहा जाता है कि सहकारीकारण सापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है।

-- -- --

अरे! ऐसे प्रतापवंत चन्द्र को भी क्षणभर में राहू ग्रस लेता है तो पुण्य से प्राप्त इस राज्य वैभव को भी दुर्भाग्य रूप राहू कभी भी ग्रस सकता है, अतः समय रहते ऐसा काम क्यों न करें, जिससे दुर्भाग्य को ग्रसने का मौका ही न मिले। वह हमें ग्रसित करे। उसके पहले हम ही उस दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल दें। अर्थात् जिनदीक्षा धारण करके उस कर्मकलंक को ही धो डालें।

जब कर्म ही नहीं होंगे तो दुर्भाग्य सौभाग्य का सवाल ही कहाँ रहा?

--

--

--

जिसप्रकार विशाल समुद्र के बीच जहाज पर बैठे पक्षी को जहाज के सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है, उसीप्रकार संसारी प्राणी को एक आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है। सब संयोग अध्रुव है। यह जीव परिवार के लिए पाप करता है और उसका फल उसे स्वयं को भोगना पड़ता है। अतः ऐसे परिवार का मोह तुरन्त त्यागने योग्य है।

--

--

--

हे भव्य आत्माओ! जीव को अन्तर में जो सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उन अनुभूतियों को जीव स्वयं अन्तर में स्वानुभव से स्पष्ट जानता है। विचार की उत्पत्ति शरीर में नहीं, जीव में होती है। जीव अरूपी है इसलिए उसके विचारों एवं अनुभूतियाँ भी अरूपी हैं; वे नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर न होने पर भी स्वसंवेदनरूप ज्ञान से जानी जा सकती हैं। इसप्रकार संवेदन करनेवाला तत्त्व ही जीव है। इसप्रकार अरूपी एवं ज्ञानमय जीव का अस्तित्व प्रत्येक को अपने स्वसंवेदनज्ञान से सिद्ध हो सकता है। 'मैं हूँ' ऐसी अपनी अस्ति का जो वेदन करता है, वही जीव है।

--

--

--

एक मनुष्य को जितना ज्ञान है; हाथ-पैर कट जाने से कहीं उसका ज्ञान उतना कट नहीं जाता, ज्यों का त्यों रहता है; क्योंकि ज्ञान शरीर में नहीं; किन्तु शरीर से भिन्न जीव में ही है। ज्ञान जीव का ही लक्षण है, शरीर का नहीं। शरीर संयोगी वस्तु होने से उसके दो टुकड़े हो सकते हैं; जीव असंयोगी होने से उसके दो टुकड़े किसी प्रकार नहीं हो सकते।

कई बार देखा जाता है कि कोई जीव शरीर में रोगादि प्रतिकूलता होने पर भी शान्ति रखता है और धर्मध्यान करता है तथा किसी अन्य जीव को बाह्य में स्वस्थ-सुन्दर शरीर होने पर भी अन्तर में वह किसी भयंकर चिन्ता से जल रहा होता है। इसप्रकार दोनों तत्त्वों की क्रिया बिल्कुल भिन्न-भिन्न

होती है।

--

--

--

अनादि से जीव बाह्य विषयों में मोहित होकर उनसे सुखी होना चाहता है; परन्तु अभी तक सुखी नहीं हुआ, किन्हीं भी विषयों में उसे तृप्ति नहीं मिली; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं, उनके पीछे दौड़ने में मात्र दुःख और आकुलता ही होती है।

जब किसी ज्ञानी धर्मात्मा से सुनकर या जानकर कोई भव्य जीव अपने आत्मस्वरूप को शान्तिपूर्वक विचारता है, उससमय वह पाँच इन्द्रियों के किसी भी विषय को भोगता नहीं है, उसका चिन्तन भी नहीं करता। आत्म विचार ही करता है कि - "मेरा आत्मतत्त्व शरीर से भिन्न है, उसे साधकर मैं मोक्ष प्राप्त करूँगा" - ऐसे विचार के समय पाँच इन्द्रियों के बाह्य विषय यद्यपि छूट गये हैं; परन्तु वह जीव दुःखी नहीं है, परन्तु अन्तर में उसे शान्ति का वेदन ही होता है। वह आत्मा में अधिक गहराई तक उतरकर तन्मय हो तो उसे अतीन्द्रिय सुख का वेदन भी होगा; वही मोक्षसुख का स्वाद है। इसप्रकार विषयों के बिना अकेले आत्मा से मोक्षसुख का अनुभव होता है। आत्मा द्वारा होनेवाला ऐसा सुख ही नित्य रहनेवाला सच्चा सुख है।

--

--

--

संसार के चाहे जैसे पुण्य संयोग हों, वे जीव को तृप्ति नहीं दे सकते; जीव को तृप्ति दे - ऐसा स्वभाव आत्मा में ही है। निज स्वभाव में सुख का जो भण्डार है, उसे देखते ही अपूर्व सुखानुभव और तृप्ति होती है। उस सुख के लिए किसी बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। राजवैभवादि चाहे जितने होने पर भी जीव मानसिक चिन्ताओं से दुःखी ही रहता है।

--

--

--

मोक्षमार्ग आत्मा के आश्रित ही है; इसलिए उपयोग को परद्रव्यों में मत घुमाओ; अपने आत्मस्वरूप में ही एकाग्र होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित होओ।

-- -- --
 मोक्षमार्गरूप धर्म की मुख्य उपासना तो निर्ग्रन्थ मुनिवरों को होती है और उसके एक अंश की उपासना-श्रावक-गृहस्थ को होती है। उस मुनिधर्म या श्रावक धर्म दोनों में सम्यग्दर्शन तो मूलभूत होता ही है। जीव-अजीवादि नवतत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान और उसमें शुद्ध द्रव्य-पर्यायरूप जीवतत्त्व की अनुभूतिरूप श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

-- -- --
 धन्य हैं वे व्यक्ति जो जिनदर्शन करके निजदर्शन कर लेते हैं और उनके बताये मार्ग का अनुसरण करते हैं। प्रभो! हमारा वह दिन कब आयेगा जब हम आपके आदर्शों का अनुसरण करेंगे। हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं और यह भावना भाते हैं कि वह मंगलमय दिन हमें शीघ्र प्राप्त हो, जब हम आपका अनुसरण करें।

-- -- --
 भोगभूमि में जीवों की संयमदशा नहीं होती। हाँ, सम्यग्दर्शन हो सकता है। कोई जीव मनुष्य आयु का बंध करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह भी भोगभूमि में उत्पन्न होता है तथा आत्मज्ञान के बिना भी पात्रदान देनेवाले अत्यन्त भद्रजीव भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ किसी पशु का भय नहीं है, दिन-रात और ऋतुओं का परिवर्तन नहीं। अधिक शीत और अधिक उष्णता नहीं, जीव परस्पर दुःख नहीं देते। सब जीव शान्त एवं भद्र परिणामी होते हैं। वहाँ के सिंह आदि पशु मांसाहारी नहीं होते, अहिंसक होते हैं। वहाँ कीड़े-मकोड़े-मच्छर आदि तुच्छ जीव नहीं होते। सब जीव सर्वांग सुन्दर होते हैं। कभी-कभी ऋद्धिधारी मुनिवर भी उस भोगभूमि में पधारते हैं, उनके उपदेश से अनेक जीव आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। पापी जीवों का वहाँ अभाव है। वहाँ के सब जीव मरकर देवगति में ही जाते हैं, अन्य किसी गति में नहीं जाते। वहाँ कोई जीव दुराचारी नहीं होते; किसी को इष्ट वियोग नहीं होता। वहाँ के जीवों को निद्रा, आलस्य नहीं

होता तथा वे वज्र शरीरी होते हैं। भोग-भूमियाँ जीवों को जैसा सुख है वैसा चक्रवर्ती को भी नहीं होता। जन्म के बाद २१, ३५ या ४४ दिन में ही पूर्ण हो जाते हैं मृत्यु के समय भी उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती।

यद्यपि वहाँ कल्पवृक्षों से सबप्रकार की भोग सामग्री उपलब्ध होती है; परन्तु वहाँ से मुक्ति नहीं होती, अतः ज्ञानी भोगभूमि के भोग की भावना नहीं भाते; उन्हें तो संयम धारण करने की प्रबल भावना होती है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्रोध उसका स्वभाव नहीं है। जीव का स्वभाव शान्ति एवं ज्ञानानन्दमय है। अन्तर में चैतन्य परमतत्त्व है। उस स्वतत्त्व की महिमा का चिन्तन करने से क्रोधादिभाव शान्त हो जाते हैं और सम्यक्त्व आदिभाव प्रगट होते हैं।

-- -- --
 जीवादि कोई पदार्थ न सर्वथा क्षणिक है और न सर्वथा नित्य है; यदि उसे सर्वथा क्षणिक माना जाये तो पुण्य-पाप का फल या बंध-मोक्ष आदि कुछ भी नहीं बन सकते। जीव सर्वथा नित्य भी नहीं है। एक ही जीव एक साथ नित्य तथा अनित्य ऐसे अनेक धर्मस्वरूप हैं, (आत्मा द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, पर्याय की दृष्टि से देखें तो वह पलटता है।) आत्मा के इन परस्पर विरोधी दो धर्मों का एक साथ होने को ही अनेकान्त कहते हैं। उसीप्रकार जीवादि तत्त्वों में जो अपने गुण-पर्याय हैं, उनसे वह सर्वथा अभिन्न नहीं है; वह तो अनेकान्त स्वरूप है।

-- -- --
 जीव को घट-पट-शरीर-कर्म आदि परद्रव्य का कर्ता उपचार से कहा जाता है, वास्तव में जीव उनका कर्ता नहीं है। अशुद्धनय से जीव अपने रागादि भावों का कर्ता है; परन्तु वह कर्तापना छोड़ने योग्य है, शुद्धनय से जीव क्रोधादि का कर्ता भी नहीं है, वह अपने सम्यक्त्वादि शुद्ध चेतन भावों का ही कर्ता है; वह उसका स्वभाव है।

अशुद्धनय से जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है, शुद्धनय

से वह कर्मफल का भोक्ता नहीं है, अपने स्वाभाविक सुख का ही भोक्ता है।

-- -- --

पूर्व पर्याय में जीव शुभाशुभ कर्म को करता है और उत्तर पर्याय में अथवा दूसरे जन्म में उसके फल को भोगता है; इसलिए पर्याय अपेक्षा से देखने पर जो करता है, वही नहीं भोगता और द्रव्य-अपेक्षा से देखने पर जिस जीव ने कर्म किए, वही जीव उनके फल को भोगता है।

-- -- --

मनुष्य भव के ये दुर्लभ दिन विषय-भोगों में गंवा देना चिन्तामणि को समुद्र में फेंकने के समान है; अतः बचपन से ही धर्म की साधना कर्तव्य है।

जीवों का संसार अनादि अनन्त है, अज्ञानी जीव उसका पार नहीं पा सकते; परन्तु भव्यजीव आत्मज्ञान द्वारा अनादि संसार का भी अन्त कर देते हैं। जो रत्नत्रयरूपी धर्म नौका में नहीं बैठते वे अनन्तबार संसार-समुद्र में डूबते हैं; परन्तु जो आत्मज्ञान करके एकबार धर्म नौका में बैठ जाते हैं। वे भव समुद्र को पार कर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं। इसलिए मोक्षार्थी जीव को भव समुद्र से पार होने के लिए अवश्य धर्म का सेवन करना चाहिए।

-- -- --

ग्राह्य देवों के देवियाँ नहीं होतीं, तथापि अन्य देवों की अपेक्षा अत्यधिक सुख वहाँ है। इससे सिद्ध है कि सुख विषयों में नहीं होता।

-- -- --

जो उपयोग को निज परमात्मा में एकाकार करके बैठे हों, बाह्य उपद्रव उनका क्या बिगाड़ सकते? परमात्मतत्त्व में उन उपद्रव्यों का प्रवेश ही कहाँ है? जिसप्रकार बिजली की तीव्र गड़गड़ाहट भी मेरु पर्वत को हिला नहीं सकती, उसीप्रकार देवियों की रागचेष्टा उन महात्मा के मन मेरु को किंचित् भी डिगा नहीं सकीं।

-- -- --

अंतर्मुख उपयोग में मात्र आत्म प्रकाशन है, आत्मा स्वयं ही ज्ञाता और स्वयं ही ज्ञेय - इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक की अभिन्नता है। उस समय

उपयोग में परज्ञेय नहीं होता; क्योंकि साधकदशा में उपयोग स्व में तथा पर में दोनों में एकसाथ नहीं लगता; एकसमय एक में ही उपयोग होता है।

-- -- --

छद्मस्थ जीव अपने उपयोग को स्वज्ञेय में ही लगाता है। जिस भेदज्ञान द्वारा परवस्तु को पररूप जाना है वह ज्ञान उस पर्याय में वर्तता अवश्य है; परन्तु लब्धिरूप वर्तता है। उपयोग में तो आत्मा ही ज्ञाता और स्वयं ही ज्ञेय है। पर से भिन्नता का ज्ञान कराने के लिए कहीं पर सन्मुख उपयोग होना आवश्यक नहीं है। अपने शुद्ध आत्मा को स्वज्ञेयरूप से जाना और उसमें राग की या जड़ की मिलावट नहीं की, वही भेदज्ञान है। ज्ञानी को वह निरन्तर वर्तता है।

-- -- --

प्रश्न - धर्मी का उपयोग अन्तर में हो तब तो उस अतीन्द्रिय उपयोग में इन्द्रिय विषय छूट गये हैं; परन्तु जब उसी धर्मी का उपयोग बाह्य में हो और इन्द्रियज्ञान हो, तब उस बाह्य उपयोग के समय क्या उसे मात्र इन्द्रियज्ञान ही होता है अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है?

उत्तर - धर्मी को बाह्य उपयोग के समय इन्द्रिय ज्ञान होता है तथा उसे उस पर्याय में अतीन्द्रियज्ञान नहीं है, तथापि उसी पर्याय में पहले जो आत्मज्ञान किया है, उसकी धारणा वर्तती है, इसलिए अतीन्द्रियज्ञान का परिणामन लब्धिरूप से चल सकेगा। इसलिए अतीन्द्रियज्ञान तथा अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप शान्ति, सम्यक् श्रद्धा आदि इन्द्रियातीत शुद्धभाव धर्मी की पर्याय में सदा वर्तते ही हैं और उन भावों द्वारा ही धर्मी जीव की सच्ची पहिचान होती है।

-- -- --

यदि बाह्य विषयों में सुख होता तो चक्रवर्ती के समक्ष तो सर्वोत्कृष्ट भोगोपभोग विद्यमान थे, फिर उन्हें त्याग कर वे वनवासी मुनि क्यों होते? इसलिए निश्चित होता है कि बाह्य सामग्री में, विषयभोगों में या उनके संग में कहीं सुख है ही नहीं, सुख तो चैतन्यस्वरूप की अनुभूति में ही है। सुख

आत्मा का स्वभाव है और उसके ध्यान में जो अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन होता है, वही सच्चा सुख है।

-- -- --

आत्मतत्त्व स्वयं स्वतंत्र है; यह अनादिअनंत अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप में वर्तनेवाला है; ज्ञान और आनन्द उसका स्वभाव है, जो कि जीव के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वकीय असंख्यात प्रदेश में रहकर प्रतिसमय जानता और परिणमता है।

-- -- --

ज्ञानी आत्मा स्व-पर का भेदज्ञान करके पर से विभक्त अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है और उसी में एकत्वरूप से परिणमता है; इसलिए हे जीवो! तुम भी भेदज्ञान करके रागरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में ही आत्मा को दृढरूप से परिणमित करो। सब अरहंत तीर्थंकर इसी विधि से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और तुम्हारे लिए भी मोक्ष का यही एक उपाय है।

-- -- --

शुद्धस्वरूप में ही मोक्षमार्ग का समावेश है, राग का कोई अंश उसमें नहीं आत्मा के है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव से परिणमित आत्मा स्वयं ही मोक्ष का कारण है और स्वयं ही मोक्षरूप हैं।

-- -- --

वैयावृत्त तप के संबंध में विचारणीय बात यह है कि जब यह अंतरंग तप है तो इसका सीधा संबंध आत्मा के परिणामों से होना चाहिए; शारीरिक सेवा से नहीं। हाँ, वेदना आदि के कारण जब कोई साधु या श्रावक विचलित होता है; तब साधर्म्य उसके परिणामों के स्थितिकरण के लिए शारीरिक अनुकूलता भी पद के अनुसार निर्दोष विधि से करते हैं। इस तप का वस्तुतः तो आत्मा के परिणामों से ही संबंध है। स्वस्थ अवस्था में शरीर की मालिश और पग चप्पी करना/कराना वैयावृत्त तप नहीं है।

जब-जब भी साधुओं को शारीरिक कष्ट होने के कारण सेवा कराने का विकल्प मन में आये, औषधि प्राप्त करने का भाव मन में आये तो तुरन्त

तत्त्वज्ञान के बल से वे उस उपसर्ग या परिषह को जीतें। सेवा कराने का मन में सदैव निषेध वर्ते तो उस इच्छा निरोध का भाव वैयावृत्त रूप अन्तरंग तप संज्ञा को प्राप्त होता है; सेवा कराने का भाव एवं सेवा कराना तप नहीं।

-- -- --

श्रावकजन साधुओं के प्राकृतिक/अप्राकृतिक परिषह उपसर्ग या रोगादिजनित पीड़ा को देखकर पद के योग्य परिचर्या करते हैं तो उन्हें पुण्यबंध होगा; क्योंकि वह साधु-समाधि भावना है; वैयावृत्त भावना है। तप में तो इच्छाओं का निरोध अनिवार्य है और तप साधु का मूल गुण है। उससे श्रावक का क्या संबंध?

-- -- --

भगवान कोई अलग नहीं होते। सही दिशा में पुरुषार्थ करने से प्रत्येक जीव भगवान बन सकता है। स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो और स्वयं में समा जाओ; भगवान बन जावोगे।

भगवान जगत का कर्ता-हर्ता नहीं, वह तो समस्त जगत का मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त (वीतराग) रह सके अथवा पूर्णरूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान हैं।

जो कार्य मात्र भाग्य के आधीन है, होनहार पर निर्भर है, उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।

-- -- --

यह जीवस्वभाव से स्वयं सुख का निधान है, परिपूर्ण आनन्दघन आत्मा है, चैतन्य सम्राट है; तथापि निजनिधि को भूलकर, विषयों का भिखारी होकर चारों गति में सुख की भीख माँगता हुआ भटक रहा है; यदि यह सुख के सागर भगवान आत्मा को अन्तर्मुख दृष्टि से देखे तो स्वाधीन सुख का अनुभव हो।

-- -- --

जीव स्वयं ही मोह द्वारा स्वयं को बन्धन में बाँधकर संसाररूपी कारागृह

में पड़ा है। जिसप्रकार पिंजरे में बन्द पक्षी दुःखी होता है अथवा खम्भे से बँधा हुआ गजराज दुःखी होता है, उसीप्रकार मोही जीव भवबन्धन में निरन्तर दुःखी एवं व्याकुल होता है। यह प्राणी मृत्यु से भयभीत होने पर भी उसी के कारणों की ओर दौड़ता है; उससे छूटने का प्रयत्न नहीं करता।

रत्नत्रयधर्म का सेवन ही इस भव दुःख से छुड़ाकर मोक्षसुख देनेवाला है। इसी कारण ज्ञानी भव-तन-भोग से विरक्त होकर निज ज्ञायकतत्त्व में ही अपने चित्त को अनुरक्त करने दीक्षा ग्रहण में तत्पर होते हैं।

लौकिकजन चमत्कारों और घटनाओं में अधिक रुचि रखते हैं, इसकारण जिनतीर्थकरों का जीवन घटना प्रधान रहा और जिनके साथ लौकिक चमत्कार की घटनायें जुड़ गईं, वे बहुचर्चित हो गये या हो रहे हैं। जैसे कि - भगवान भरत और भगवान बाहुबली समानरूप से अरहन्त परमात्मा बने तो भी बाहुबली की बेलों और बाँवियों ने उन्हें अधिक आकर्षक बना दिया; जबकि वे उनकी विशेषताओं की प्रतीक नहीं; बल्कि भरतजी की अपेक्षा कमजोरी की परिचायक हैं; क्योंकि भगवान बाहुबली को जिस उपयोग को आत्मा में लगाने में इतनी कठिन साधना करनी पड़ी; वही काम भरतजी ने अन्तर्मुहूर्त में उपसर्ग और परिषह सहे बिना ही कर लिया।

यादव कुल में मूलतः हरिवंशीय महाराजा सौरी हुए। उनसे अन्धकवृष्णि और भोगवृष्णि ये दो पुत्र हुए। उनमें राजा अन्धक वृष्णि के दस पुत्र थे, जिनमें बाल तीर्थकर नेमिकुमार के पिता - सौरीपुर के राजा समुद्र विजय सबसे बड़े भाई थे और श्रीकृष्ण के पिता राजा वसुदेव सबसे छोटे भाई थे। दस भाईयों में ये दोनों ही सर्वाधिक प्रभावशाली, धीर-वीर और सर्वगुण सम्पन्न पुराण प्रसिद्ध पुरुष हुए। राजा समुद्र विजय की रानी शिवा देवी से वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन शुभ घड़ी में नेमिकुमार का जन्म हुआ।

नेमिकुमार और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे। राजा समुद्र विजय और वसुदेव

- दोनों सहोदर न्यायप्रिय, उदार, प्रजावत्सल, धीर-वीर-गंभीर और अत्यन्त रूपवान, बलवान तथा शलाका पुरुषों के जनक थे।

दिव्यध्वनि में जगत की अनादिनिधन, स्वतंत्र, स्वाधीन, अहेतुक, स्व-संचालित व्यवस्थाका ज्ञान कराया गया है। यह सृष्टि अहेतुक है अर्थात् किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई है, किसी ने इसे बनाया नहीं है। जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं अपनी भूल से संसार में घूमता है और स्वयं भूल सुधार कर मुक्त हो सकता है। कोई किसी का कर्ता-धर्ता नहीं है।

यह अटल नियम है कि होनी को कोई टाल नहीं सकता, जब जिसके निमित्त से जो होना है, वही, तभी उसी के निमित्त से होकर रहता है, उसे इन्द्र और जिनेन्द्र भी आगे-पीछे नहीं कर सकते।

दूसरों का अपकार करनेवाला पापी मनुष्य दूसरों का वध तो एक बार करता है, पर उसके फल में अपना वध जन्म जन्म में असंख्य बार करता है तथा अपना संसार बढ़ाता है। व्यक्ति दूसरे का अपकार तो किसी तरह भी नहीं कर सकता है; परन्तु ध्यान रहे, दूसरों को दुःखी करनेवाले को दुःख की परम्परा ही प्राप्त होती है।

बहुत भले काम करने से भी यदि कभी/किसीका/जाने/अनजाने दिल दुःखाया हो, अहित हो गया हो अथवा अपने कर्तृत्व के झूठे अभिमान में पापार्जन हुआ हो तो वह भी बिना फल दिए नहीं छूटता। तीर्थकर मुनि पार्श्वनाथ पर कमठ का उपसर्ग, आदि तीर्थकर ऋषभमुनि को एक वर्ष तक आहार में अन्तराय इस बात के साक्षी हैं कि तीर्थकर जैसे पुराण पुरुषों को भी अपने किए पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना ही पड़ा था। अतः हमें इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखने की जरूरत है कि भूल-चूक से भी, जाने-

अनजाने में भी हम किसी के प्राण पीड़ित न करें। अपने जरा से स्वाद के लिए हिंसा से उत्पन्न आहार ग्रहण न करें, अपनी पूरी दिनचर्या में अहिंसक आचरण ही करें।

इस संसार में जीव जब तक आत्मज्ञान नहीं करता तब तक उसे ऐसे जन्म-मरण होते ही रहते हैं। अतः अपने हित के लिए दुष्ट अज्ञानी जीवों का संग छोड़कर ज्ञानी-धर्मात्माओं का संग करना योग्य है।

ऐसा अस्थिर संसार, ऐसे क्षणभंगुर संयोग... यह राजपाट, ये रानियाँ ये शरीरादि... सब संयोग इन मेघों की भाँति बिखर जाने वाले विनाशक हैं। अरे, ऐसे अस्थिर इन्द्रिय विषयों में दिन-रात लगे रहना शोभा नहीं देता। यह शरीर नाशवान है और ये भोग भवरोग को बढ़ाने वाले हैं। अतः जिसे अपना हित करना हो उसे इन भोगों की लालसा में जीवन गँवाना उचित नहीं है। जिसप्रकार यह मेघ रचना क्षणभर में बिखर गई, उसीप्रकार ये भोगों के क्षणिक संयोग नाशवान हैं, अतः हमें अविलम्ब इस संसार को छोड़कर मुनि मार्ग अपना कर मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

“इस समस्त बाह्य वैभव की अपेक्षा हमारा अनन्त चैतन्य वैभव भिन्न प्रकार का है, वही सुख का दातार है, बाह्य का कोई वैभव सुख देने वाला नहीं है, उसमें तो आकुलता है। पुण्य से प्राप्त बाह्य वैभव तो अल्पकाल ही रहनेवाला है और हमारा आत्म वैभव अनन्तकाल तक साथ रहेगा। सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र द्वारा मोह को जीतकर मैं मोक्ष साम्राज्य प्राप्त करूँगा, वही मेरा सच्चा साम्राज्य है” ज्ञानी ऐसा संकल्प करता है।

हे आत्मन् ! यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान एवं सुखरूप है, सम्पूर्ण जगत में घूम-फिर कर देखा, परन्तु आत्मा के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र सुख दिखायी नहीं दिया। आत्मा का सुख आत्मा में ही है, वह बाहर ढूँढ़ने से नहीं मिलेगा। आत्मा को जानने से ही आत्मसुख की प्राप्ति होती है। जिनशासन

में अरहंत भगवान ने ऐसा कहा कि “पूजा व्रतादि के शुभराग से पुण्यबन्ध होता है और मोह रहित जो वीतरागभाव है वह धर्म है, उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।”

जिनेन्द्र देव के वीतरागी जिनबिम्ब आत्मा के शुद्धस्वरूप के प्रतिबिम्ब हैं और आत्मा का शुद्धस्वरूप लक्ष्य में आने पर मोह का नाश होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। नन्दीश्वर द्वीप में मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ देव ही जाते हैं। जिसप्रकार आत्मा का शुद्धस्वभाव शाश्वत अनादि का है, उसीप्रकार वहाँ के प्रतिबिम्ब भी शाश्वत अनादि के हैं। वे भले अचेतन हों; किन्तु चैतन्य गुणों के स्मरण का निमित्त हैं। वे मूक जिन प्रतिमाएँ ऐसा उपदेश देती हैं कि संकल्प-विकल्प छोड़कर तुम अपने स्वरूप में स्थिर हो जाओ। जिसप्रकार चिन्तामणि के चिन्तन द्वारा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार तुम जिस स्वरूप में प्रभु का ध्यान करोगे उसी स्वरूप में तुम होंगे। अरे, जिसे जिनदेव के प्रति भक्ति नहीं है वह तो संसार समुद्र के बीच विषय-कषाय रूपी मगर के मुख में ही पड़ा है।

क्षमावन्त आत्मा के संसर्ग से नाग जैसे विषधर जीव भी क्रोध छोड़कर क्षमावान बन जाते हैं और शरीर के टुकड़े कर देनेवाले के प्रति भी क्रोध न करके क्षमाभाव से शरीर त्यागकर देव हो जाते हैं।

“मुझे जगत के सामान्य मनुष्यों की भाँति संयम रहित काल नहीं गंवाना है। ऋषभादि जिनवर जिस मार्ग पर चले उसी मार्ग पर मुझे जाना है, इसलिये मैं दीक्षा लूँगा और आत्मसाधना पूर्ण करूँगा।” इसप्रकार भव से विमुख और मोक्ष के सन्मुख हुए पार्श्वकुमार वैराग्य भावना भाने लगे।

सुख पाने के लिए अन्यत्र भटकना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अपना सुख अपने में ही है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः सुखार्थी का

परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा में झांकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भण्डार है, सुख स्वरूप है, सुख ही है तथा पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख है ही नहीं। चक्रवर्ती की संपदा पाकर भी यह जीव सुखी नहीं हो पाया। ज्ञानी जीवों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति की कोई कीमत नहीं है, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर में समा जाते हैं। अन्तर में जो अनन्त आनन्दमय महिमावंत परम पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नहीं।

शुभाशुभभाव रूप (पुण्य-पाप) का फल चर्तुगति का भ्रमण ही है। शुभाशुभभाव के अभावरूप जो वीतरागभाव है, वही धर्म है; वही सुख का कारण है। वीतराग भाव की उत्पत्ति आत्मानुभूति पूर्वक होती है। अतः प्रत्येक आत्मार्थी को वीतरागभाव की प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

जैनदर्शन का मार्ग नर से नारायण बनने तक का ही नहीं, अपितु आत्मा से परमात्मा बनने का है, शेर से सन्मति बनने का है, पशु से परमेश्वर बनने का है।

पूर्वभवों की चर्चा हमें आश्वस्त करती है कि अपनी वर्तमान दशा मात्र को देखकर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। जब भगवान महावीर की आत्मा को शेर जैसी पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त हो सकती? तो हमें क्यों नहीं हो सकती? यदि इसमें दस-पाँच भव भी लग जाएँ तो इस अनादि-अनंत संसार में दस-पाँच भव क्या कीमत रखते हैं।

“पंचमकाल में तो मुक्ति होती ही नहीं; अतः अभी तो शुभभाव करके स्वर्गादि प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।” - ऐसा सोचकर निराश न हों भले ही मुक्ति इस काल में, इस क्षेत्र में एवं इस भव में न हो; पर शेर के

समान आत्मानुभूति प्राप्त कर मुक्ति का सिलसिला आरम्भ तो हो ही सकता है।

“सर्व समाधान कारक तो अपना आत्मा ही है। दूसरों को देखना, सुनना आदि तो निमित्त मात्र है। मुनिराजों की शंकाओं का समाधान उनके अंतर से स्वयं हुआ, वे उस समय मुझे (सन्मति को) देख रहे थे; अतः मुझ पर आरोप आ गया। ज्ञान तो अन्तर में से आता है, किसी पर-पदार्थ में से नहीं” - ऐसा बालक वर्द्धमान ने कहा।

मैं यदि ‘सन्मति’ हूँ तो अपनी सद्बुद्धि के कारण, तत्वार्थों के सही निर्णय करने के कारण हूँ, न कि मुनिराजों की शंका के समाधान के कारण। यदि किसी जड़ पदार्थ को देखने से किसी को ज्ञान हो जावे तो क्या वह जड़ पदार्थ भी ‘सन्मति’ कहा जायेगा?

एक तो आत्म-साधनारत वीतरागी संतों के ज्ञान में अंतरोन्मुखी वृत्ति के कारण बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आते ही नहीं; यदि आते भी हैं तो उनके चित्त में कोई भंवर पैदा नहीं करते, मात्र ज्ञान का ज्ञेय बनकर रह जाते हैं; क्योंकि वे तो अपनी और पर की परिणति को जानते-देखते हुए प्रवर्तते हैं।

प्रत्येक द्रव्य की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता है, उसका भला-बुरा परिणामन उसके आधीन है, उसमें पर का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है तथा जिसप्रकार आत्मा अपने स्वभाव का कर्ता-भोक्ता स्वतंत्र रूप से है, उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा अपने विकार का कर्ता-भोक्ता भी स्वयं है। इस रहस्य को गहराई से जानने वाले महावीर उससे सर्वथा निरीह ही रहे।

तीर्थंकर ही धर्मसभा में राजा-रंक, अमीर-गरीब, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्मश्रवण करते हैं। उनकी धर्मसभा में प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार है। छोटे-बड़े और जाति-पाति का कोई भेद नहीं है।

यहाँ तक कि उसमें मुनि-आर्यिकाओं, श्रावक-श्राविकाओं, देव-देवांगनाओं के साथ-साथ पशुओं के बैठने की भी व्यवस्था है और वे श्रवण करते हैं।

-- -- --

जो व्यक्ति अरहंत भगवान के वीतरागी-सर्वज्ञ स्वभाव को भली प्रकार जान लेता है, पहिचान लेता है, वह अपने आत्मा को भी जान लेता है, पहिचान लेता है और उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य नष्ट हो जाता है। वह अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा चारित्र-मोह का भी क्रमशः नाश करता जाता है और कालान्तर में जाकर वह भी वीतरागी बन जाता है। उसके समस्त मोह-राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। वह लोकालोक का ज्ञाता हो जाता है, वह स्वयं वीतरागी बन जाता है।

-- -- --

हे प्रभो! जिसके क्षयोपशम ज्ञान में वीतरागता और सर्वज्ञता का सच्चा स्वरूप आ गया; वह निश्चित रूप से भविष्य में पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा। सर्वज्ञ का ज्ञान तो अनन्त महिमावंत है ही, किन्तु जिसके ज्ञान में सर्वज्ञता का स्वरूप आ गया, उसका ज्ञान भी कम महिमावाला नहीं है; क्योंकि वह सर्वज्ञता प्राप्त करने का बीज है। सर्वज्ञता की श्रद्धा बिना पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती।

-- -- --

“कोई भी कार्य काललब्धि आने पर भवितव्यतानुसार ही होता है, उस काल में तदनुकूल पुरुषार्थपूर्वक उद्यम भी होता है तथा अनुकूल निमित्त भी उपस्थित रहता ही है। मेरे अभाव के कारण प्रभु की वाणी रुकी और मेरे आने के कारण खिरी, यह दोनों बातें मात्र उपचार से ही कही जा सकती हैं। वस्तुतः वाणी के खिरने का काल यही था, मेरे सद्धर्म की प्राप्ति का काल भी यही था। दोनों का सहज संयोग हो जाने पर यह उपचार से कहा जाने लगा कि मेरे कारण भगवान की वाणी खिरी।” - ऐसा गौतम गणधर ने कहा।

वे महावीर तो अभी भी हैं; किन्तु अपने अनन्तवीर्य गुण के कारण

महावीर हैं, सांप और मदोन्मत्त हाथियों को काबू में करने के कारण नहीं। सांपों और हाथियों को तो सपेरे और महावत भी काबू में कर लेते हैं, इसमें अनन्त बल के धनी महावीर से जोड़ना उनकी महावीरता का मूल्यांकन कम करना ही होगा।

-- -- --

जगत के जीवों का यह स्वभाव ही है कि वे जिस पर्याय में जाते हैं, वहीं रम जाते हैं। विष्ठा का कीड़ा विष्ठा में ही रम जाता है, दुःखद पर्याय से भी मुक्त नहीं होना चाहता।

-- -- --

यह यौवन बुढ़ापे के द्वारा ग्रसने वाला है, आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है, यह सुन्दर शरीर नवमल द्वारों से दुर्गन्धित और मलिन है, इसके एक-एक रोम में ९६-९६ रोग हैं, सचमुच देखा जाय तो यह देह व्याधियों का ही घर है। जन्म-जरा-मृत्यु आदि १८ दोषों से युक्त है। अशुचि भावना में तो स्पष्ट कहा है कि - यह देह मांस, खून, पीव और मलमूत्र की थैली है, हड्डी, चर्बी आदि से अत्यन्त मैली है, इस देह में नौ द्वारों से घृणास्पद मल प्रवाहित होता है। हे भाई! तू ऐसी देह से प्रेम क्यों करता है? इससे अपने मोक्षमार्ग को साध कर इसे सफल क्यों नहीं करता?

-- -- --

ये घर, द्वार, गोधन, हाथी, घोड़ा, नौकर-चाकर, यह युवावस्था तथा ये इन्द्रियों के भोग सब इन्द्र धनुष और बिजली के समान क्षणिक हैं, नाशवान हैं; अतः इनसे राग तोड़ और आत्मा से प्रीति जोड़!

-- -- --

संसार में इष्ट वस्तुओं का वियोग और अनिष्ट वस्तुओं का संयोग सदैव होता ही रहता है। जिनके निमित्त से कुगति का कारण आर्तध्यान होता रहता है। अतः तपरूपी अग्नि के द्वारा कर्मों को जलाकर सुवर्ण के समान अविनाशी शुद्धि एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त करें।

-- -- --

निष्फल उपाय किस बुद्धिमान को विषाद युक्त नहीं करता। कोई कितना भी समझदार क्यों न हो, तत्काल विषाद तो हो ही जाता है। भूमिकानुसार जब तक जितने कषायकण अथवा तत्संबंधी राग विद्यमान है, तदनुसार यत्किंचित् दुःख तो हो ही जाता है।

-- -- --

कामी विषयासक्त मनुष्यों को अच्छे-बुरे के अन्तर का विवेक कहाँ होता है? ऐसा जान पड़ता है कि वह चक्रवर्ती अपने चक्रवर्ती के वैभव और भोगोपभोगों में विवेकशून्य हो गया है। अस्तु स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी का लाभ भी उसे अभी लाभ - सा नहीं लगता।

-- -- --

“शूरवीरता और साहस से सुशोभित क्षत्रिय पुत्रों का यौवन यदि दुःसाध्य कार्य में पिता का मनोरथ सिद्ध नहीं करता तो ऐसे यौवन को धिक्कार है। वह बकरे के गले में लटकते स्तनों के समान निरर्थक है। जन्म और यौवन का अस्तित्व तो सर्वसाधारण जीवों के जीवन में भी होता है। उसमें हमारी क्या विशेषता है। अतः आप हम लोगों को साहसपूर्ण कार्य सौंपिए, जिसमें हम अपने प्राप्त यौवन और बल को सार्थक कर सकें। - ऐसे विचार सगर चक्रवर्ती ने व्यक्त किए।

-- -- --

वचन चार प्रकार के होते हैं, प्रथम - कुछ वचन तो हित-मित एवं प्रिय होते हैं, जिन्हें सर्वोत्तम कहा जाता है। ये अधिकांश मुनि भूमिका में ही संभव होते हैं। दूसरे, कुछ वचन हितकर होते हुए भी अप्रिय या कर्णकटु होते हैं। इन वचनों का प्रयोग माता-पिता और गुरुजन करते हैं, इनका प्रयोग मध्यम श्रेणी के लोग करते हैं। तीसरे प्रकार के वचन सुनने में तो प्रिय लगते हैं, प्रयोग में अहित कर सिद्ध होते हैं। ऐसे वचन चाटुकार लोग या स्वार्थी लोग करते हैं। ऐसे लोग सोचते हैं कि हम कठोर बोलकर बुरे क्यों बनें, अपने हित-अहित की बात वे स्वयं सोचें। हमारा काम बनना चाहिए, उसकी वह जाने। ऐसे लोग अधम व्यक्तियों की श्रेणी में गिने जाते हैं और

चौथे, कुछ लोग अहितकर और अप्रिय बोलकर मन ही मन खुश होते हैं; उन्हें अधमाधम मानवों की श्रेणी में गिना जाता है। इन चार प्रकार के वचनों में अन्तिम दो प्रकार के वचनों को छोड़कर प्रथम दो प्रकार के वचनों से पात्र की पात्रता के अनुसार हित का उपदेश दिया जा सकता है।

-- -- --

इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं कि जिनकी आयु बीच में ही छिद जाती है और कितने ही ऐसे हैं कि जो जितना आयु का बन्ध करते हैं, उतने काल तक जीवित रहते हैं, बीच में उनका मरण नहीं होता। यदि तुम मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा पाना चाहते हो तो इस व्याधि के मन्दिर शरीर से और प्रिय स्त्री-पुत्र आटे से ममत्व को छोड़ो और जिनदीक्षा धारण कर लो।

-- -- --

“यह शरीर अशुचि है, विनाशीक है, मलमूत्र का थैला है, कीकस वसादि से मैला है, हाड का पिंजरा है, घिनावना है, क्षय हो जानेवाला है। अतः अब मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये सब अकल्याणकारी हैं। यह यौवन इन्द्र धनुष के समान नश्वर है” - ऐसा सोचकर सगर चक्रवर्ती ने भागीरथ पुत्र को राज्य देकर दृढधर्म केवली के समक्ष दीक्षा धारण कर ली।

-- -- --

नीति कहती है कि विवेकी पुरुष घर में भी तभी तक रहते हैं, जब तक विरक्त होने के कोई बाह्य और आभ्यन्तर कारण नहीं मिलते। काललब्धि आने पर तो प्रतिदिन घटनेवाली घटनायें भी निमित्त बन जाती हैं।

-- -- --

अन्य प्राणियों के कार्यसिद्धि करने में अर्थात् परोपकार करने में ही प्रायः महापुरुषों को सन्तोष होता है; क्योंकि दूसरों का भला करने से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नहीं है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से बड़ी कोई पाप की प्रवृत्ति नहीं है।

-- -- --

इस लोक में तथा परलोक में मित्र समान हित करनेवाला अन्य कोई

नहीं है। जो बात माता-पिता एवं गुरुजनों से भी नहीं कही जा सकती - ऐसी गुप्त से गुप्त बात मित्र को बता दी जाती है। सच्चा मित्र अपने मित्र के हित में अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता हुआ कार्यसिद्ध कर देता है।

इस जगत में सब कुछ क्षणिक है, नाशवान है। हमारा यह शरीर भी तो नाशवान है, फिर इसके रूप का यह अहंकार क्यों? मैंने अब तक इस शरीर के लिए सब कुछ किया, अपने लिए कुछ नहीं किया। अब मैं अपने आत्मा के लिए ही करूंगा।

-- -- --

चक्रवर्ती जैसे सातिशय पुण्य के धनी जीवों को भी पापोदय के निमित्त से प्रतिकूलता के प्रसंग बन सकते हैं, अतः हमें प्रतिकूलताओं की परवाह न करते हुए अपने स्वस्थ जीवन में ही आत्मकल्याण में लगकर मानव जीवन को सफल कर लेना चाहिए। बाह्य धनादि के संग्रह करने में अपना अमूल्य समय बर्बाद नहीं करना चाहिए।

-- -- --

जो चक्रवर्ती विरागी होकर चक्रवर्ती पद का त्याग कर मुनि नहीं होता, चक्रवर्ती पद में ही मरण होने के कारण वह नियम से नरक ही जाता है; क्योंकि चक्रवर्ती पद में रहते हुए उसे देश या राष्ट्र के संचालन में उसकी व्यवस्था में बहुत आरंभजनित पापों की प्रवृत्ति होती है, बहुत परिग्रह तो है ही तथा आगम का यह वचन है कि “बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह नरक आयु बंध का कारण है।” अतः हम यथा संभव अपने जीवन में ही आरंभ और परिग्रह को सीमित करें तथा उपलब्ध परिग्रह में भी मूर्छा (ममत्व) कम करें ताकि दुर्गति न हो। वैरभाव तो कभी किसी के साथ लम्बाना ही नहीं चाहिए। अतः तत्त्वज्ञान के बल से क्रोध को ही शमित कर देना चाहिए, उसे बैर नहीं बनने दें; क्योंकि वैर अनेक भवों तक पीछा नहीं छोड़ता।

-- -- --

इस संसार में जो पंचभूतों का समूह दिखाई देता है वह स्पर्श, रस,

गन्ध और वर्णयुक्त होने के कारण पुद्गलात्मक है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि के द्वारा जिसका वेदन होता है, वह चैतन्य गुणयुक्त जीव नाम का पदार्थ विद्यमान है। इसका स्वसंवेदन से अनुभव होता है और बुद्धिपूर्वक क्रिया देखी जाती है। इस हेतु से अन्य पुरुषों के शरीर में भी आत्मा है, यह अनुमान से जाना जाता है। इसीलिए आत्मा नाम का पृथक पदार्थ है। साथ ही परलोक का अस्तित्व भी है, क्योंकि अतीत जन्म का स्मरण देखा जाता है।

-- -- --

बलभद्र - शलाकापुरुषों में बलभद्रों का भी स्थान है। इन्हें बलदेव और हलधर भी कहते हैं। बलभद्र, नारायण के बड़े भ्राता होते हैं। इन दोनों में प्रगाढ़ स्नेह रहता है, जो कि लोक विख्यात है। सभी बलभद्र होनेवाले जीव तपश्चरण कर पहले देव पर्याय प्राप्त करते हैं और फिर वहाँ से आकर बलभद्र बनते हैं। ये अतुल पराक्रमी, रूप सम्पन्न और यशस्वी होते हैं। नारायण का चिर वियोग होने पर छह माह बाद किन्हीं निमित्तों को पाकर इन्हें जीवन की यथार्थता का बोध होता है, जिससे यह मुनि बनकर आत्मसाधना करते हैं। इस काल के नो बलभद्रों में आठ ने मोक्ष प्राप्त किया और एक स्वर्ग गये।

-- -- --

जगत में जितने जीव हैं, उनकी होनहार के अनुरूप उतनेरूप, उतने ही प्रकार की उनकी पुण्य-पापरूप चित्र-विचित्र परिणतियाँ हैं। अज्ञानदशा में हुई अपनी-अपनी परिणति का फल तो सभी को भोगना ही पड़ता है। तीर्थकर होनेवाले जीवों ने भी अज्ञानदशा में अपने-अपने पुण्य के फल में नरक, निगोद की पर्यायें प्राप्त कीं और अनन्तकाल तक असह्य अनन्त दुःख सहन किए।

-- -- --

कहावत है कि ‘दीवारों के भी कान होते हैं।’ अतः ऐसी बात कहना ही नहीं चाहिए जिस बात को किसी से छिपाने का विकल्प हो और प्रगट

हो जाने का भय हो। जो भी बातें कहो, वे तोल-तोल कर कहो, ऐसा समझकर कहो, जिन्हें सारा जगत जाने तो भी आपको कोई विकल्प न हो, भय न हो; बल्कि जितने अधिक लोग जाने, उतनी ही अधिक प्रसन्नता हो।

-- -- --

यदि मन शंकाशील हो गया हो तो द्रव्यानुयोग का विचार करने योग्य है, प्रमादी हो गया हो चरणानुयोग का विचार करना योग्य है और कषायी हो गया हो तो प्रथमानुयोग (कथा-पुराण) को विषय वस्तु का विचार करना योग्य है और यदि जड़ हो गया हो तो करणानुयोग का विचार करना योग्य है। ऐसा करने से सबके समाधान सुलभ हो जायेंगे।

-- -- --

विधि का विधान अटल है, उसे कोई टाल नहीं सकता। जो घटना या कार्य जिस समय, जिसके निमित्त से, जिस रूप में होना है; वह उसी समय, उसी के निमित्त से, उसी रूप में होकर ही रहता है। उसे टालना तो दूर, आगे-पीछे भी नहीं किया जा सकता; बदला भी नहीं जा सकता। क्षेत्र से क्षेत्रान्तर भी नहीं किया जा सकता।

-- -- --

जो व्यक्ति राष्ट्र सेवा एवं समाज सेवा के नाम पर ट्रस्ट बनाकर अपने काले धन को सफेद करते हैं और उस धन से एक पंथ अनेक काज साधते हैं, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है; उनके वे भाव तो स्पष्टरूप से अप्रशस्त भाव ही हैं। सचमुच देखा जाय तो वे तो अपनी रोटियाँ सेंकने में ही लगे हैं। वे स्वयं ही समझते होंगे कि सचमुच वे कितने धर्मात्मा या पापी हैं; पर जो व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग सचमुच लोक कल्याण की भावना से जनहित में ही करते हैं, उसके पीछे जिनका यश प्रतिष्ठा कराने का कतई/कोई अभिप्राय नहीं होता, उन्हें भी एकबार आत्म-निरीक्षण तो करना ही चाहिए कि उनके इन कार्यों में कितनी धर्मभावना है और कितना अशुभभाव

वर्तता है। आँखमींचकर अपने को धर्मात्मा, दानवीर आदि माने बैठें रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

-- -- --

जिन्हें देखकर-सुनकर हमारा मन मुदित होता है, चित्त चमत्कृत हो जाता है, हृदय में आनन्द की उर्मियाँ हिलोरे लेने लगती हैं, वाणी से वाह! वाह! के स्वर फूट पड़ते हैं; उन आनन्ददायक मानवीय मानसिक वाचिक एवं कायिक अभिव्यक्तियों को ही तो लोकभाषा में कला कहा जाता है।

-- -- --

प्रत्येक भला काम सबसे पहले हमें अपने घर से ही प्रारंभ करना चाहिए।

-- -- --

धर्म करने की उम्र कोई निश्चित नहीं होती, धर्म तो हमारे जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए। धर्माचरण में सदैव तत्पर रहना चाहिए। क्या पता कब, क्या हो जाये?

-- -- --

जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है, वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके मरण को 'समाधिमरण' में एवं मृत्यु को 'महोत्सव' में परिणत कर उच्चगति प्राप्त करता है।

-- -- --

जो वीतरागी देव के पवित्र गुणों का स्मरण करता है, उसका मलिन मन स्वतः निर्मल हो जाता है, उसके पापरूप परिणाम स्वतः पुण्य व पवित्रता में पलट जाते हैं। अशुभ भावों से बचना और मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा का, जिनेन्द्रभक्ति का सच्चा फल है।

-- -- --

वे तो जिनेन्द्रदेव की मूर्ति के माध्यम से निज परमात्म स्वभाव को जानकर-पहिचानकर, उसी में जम जाना, रम जाना चाहते हैं। ऐसी भावना से ही एक न एक दिन भक्त स्वयं भगवान बन जाता है।

-- -- --

थोड़ी-सी बाह्य अनुकूलता पाकर, यदि हम यह स्वर्ण अवसर चूक गये तो दुर्गति में हमारा ही आत्मा हमसे पूछेगा - “क्या पाया है तूने पर व पर्यायों में उलझकर?” अतः क्यों न सीख लें, समझ लें इन सुखद सिद्धान्तों को और सफल कर लें अनुकूल संयोगों को। इसी में है सबका भला, यही है सुखी जीवन की कला।

-- -- --

चाहे इसे मानवीय मनोविज्ञान कहो या मानवीय कमजोरी, पर यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अधिकांश व्यक्ति दूसरों की घटनायें सुनते-सुनते स्वयं अपने जीवन की घटनाएँ सुनाने को उत्सुक ही नहीं आतुर तक हो उठते हैं और कभी-कभी तो भावुकतावश न कहने योग्य बातें भी कह जाते हैं। जिनसे वाद-विवाद बढ़ने की संभावना हो, ऐसी बातें कहने से भी अपने को रोक नहीं पाते।

-- -- --

संसार में जो आया है, उसे जाना तो पड़ता ही है; पर जाने से पहले यदि वह कुछ ऐसे काम कर ले, जिनसे स्व-पर कल्याण हो सके तथा अपने स्वरूप को जान ले, पहचान ले, उसी में जम जाये, रम जाये, समा जाये तो उसका जीवन धन्य हो जाता है, सार्थक हो जाता है, सफल हो जाता है।

-- -- --

गम्भीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहिचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं हैं, बड़बड़ाते नहीं हैं, बल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से विचार करके उचित निर्णय लेते हैं,

तदनुसार कार्यवाही करते हैं और आवश्यक मार्गदर्शन देते हैं।

-- -- --

यदि एक इंजीनियर भूल करेगा तो कोई बड़ा अनर्थ होने वाला नहीं है, उसकी भूल से कुछ मकान, पुल या बाँध ही ढहेंगे एक डॉक्टर भूल करेगा तो भी कोई बड़ी हानि नहीं होगी, केवल थोड़े से ही व्यक्ति बीमार होंगे; एक मैनेजर भूल करेगा तो कोई कलकारखाना या मिल ही घाटे में जायेगा और कोई सी.ए. भूल करेगा तो थोड़ा-बहुत हिसाब ही गड़बड़ाएगा; परन्तु यदि अध्यापक भूल करेगा तो पूरे राष्ट्र का ढांचा ही चरमरा जायेगा; क्योंकि अध्यापक भारत के भावी भाग्य-विधाताओं के चरित्र का निर्माता है; कोमलमति बालकों में नैतिकता के बीज बोनेवाला और अहिंसक आचरण तथा सदाचार के संस्कार देनेवाला उनका गुरु है। अतः उसे न केवल प्रतिभाशाली, बल्कि सदाचारी और नैतिक भी होना चाहिए।

धर्म के क्षेत्र में तो यह नीति और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि एक धर्मोपदेशक के द्वारा, भय, आशा, स्नेह, लोभवश या अज्ञानता से मिथ्या उपदेश दिया गया तो हमारा मानव जीवन ही निरर्थक हो जायेगा, भव-भव भी बिगड़ सकते हैं।

-- -- --

कहीं सचमुच ऐसा न हो कि सच्चे वैराग्य के बजाय लोग पारिवारिक परिस्थितियों से परेशान होकर कहीं किसी से द्वेष या घृणा करने लगे हों और भ्रम से उसे ही वैराग्य मान बैठे हों।

परेशानी की परिस्थितियों में सभ्य भाषा में लोग ऐसी वैराग्य की भाषा बोलते हैं, कभी-कभी उन्हें स्वयं को ऐसा लगने भी लगता है कि वे विरागी हो रहे हैं; जबकि उन्हें वैराग्य नहीं, वस्तुतः द्वेष होता है। केवल राग अपना रूप बदल लेता है; वह राग ही द्वेष में परिणित हो जाता है, जिसे वे वैराग्य या संन्यास समझ लेते हैं।

-- -- --

कोई सुखी हो जाता है, सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें काम भी ऐसा करना चाहिए, जिससे सुख की प्राप्ति हो। मैंने अपने जीवन में ऐसा कोई काम ही नहीं किया। मैं तो दिन-रात एकमात्र पैसा कमाने के चक्कर में ही पड़ा रहा। वस्तुतः मैं ऐसा मान बैठा था कि पैसा ही सब सुखों का साधन है, पैसे से सब कुछ पाया जा सकता है, पर अब मेरा यह भ्रम दूर हो गया है; पैसा बहुत कुछ हो सकता है, पर सब कुछ नहीं। अब मैं स्वयं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि कल तक मेरे पास क्या नहीं था? करोड़ों की चल-अचल संपत्ति, अटूट आमदनी के स्रोत; पर पाप का उदय आते ही वह सब संपत्ति देखते ही देखते विपत्ति बन गई है।”

-- -- --

मैं शरीर नहीं, मैं तो एक अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभावी अनादि-अनन्त एवं अमूर्तिक आत्मा हूँ तथा यह शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न जड़ स्वभावी, सादि-सान्त, मूर्तिक पुद्गल है। इससे मेरा कोई संबंध नहीं है।

-- -- --

“जिसे आपने कभी न देखा, न पहचाना, उससे मोह कैसा? मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, जो अमूर्तिक है, अरूढ़ी है। अरूपी आत्मा को ये आखें देख नहीं सकती, पहचान नहीं सकती, इस कारण आप मुझसे राग-द्वेष का भाव छोड़ें। मैं भी आप सबके प्रति हुए मोह एवं राग-द्वेष को छोड़ना चाहता हूँ। आप लोग मेरे महाप्रयाण के बाद, खेद-खिन्न न हों तथा आत्मा परमात्मा की साधना-आराधना में सदा तत्पर रहें।

बस, यही मेरा आपको संदेश है, उपदेश है, आदेश है और आशीर्वाद है। इसे जिस रूप में चाहें ग्रहण करें, पर इस कल्याण के मार्ग में अवश्य लगे। इस स्वर्ण अवसर को यों ही न जाने दें। यदि यह अवसर चूक गये तो..।” कहते कहते पिता के प्राण पखेरु उड़ गये, वे परलोक के वासी बन गये।

-- -- --

वस्तुओं के अनुसार ज्ञान नहीं होता; बल्कि अपने इन्द्रियज्ञान की

योग्यतानुसार ही वस्तुएँ जानी जाती हैं।

इसे ही शास्त्रीय भाषा में ऐसा कहा गया है कि - ज्ञेयों के अनुसार ज्ञान नहीं होता, बल्कि अपने-अपने प्रगट ज्ञान पर्याय की योग्यता के अनुसार ज्ञेय जाने जाते हैं अर्थात् जिसकी ज्ञानपर्याय में जिस पदार्थ को जिसरूप में जानने की योग्यता होती है, वह ज्ञान उसी पदार्थ को उसी रूप में ही जानता है। इस कारण वस्तुओं के सही रूप को केवली के सिवाय कोई जानता ही नहीं है।

-- -- --

यह कैसा विचित्र संयोग है, पुण्य-पाप का? यह रूप लावण्य सचमुच कोई गर्व करने जैसी चीज नहीं है। इतना और ऐसा पुण्य तो पशु-पक्षी भी कमा लेते हैं, फुलवारियों के फूल भी कमा लेते हैं, वे भी देखने में बहुत सुन्दर लगते हैं; पर कितने सुखी हैं वे?

जब पाप का उदय आता है तब परिस्थिति बदलते देर नहीं लगती। जो अपने गौरव सुख के निमित्त होते हैं, वे ही गले के फंदे बन जाते हैं।

-- -- --

वस्तु स्वातंत्र्य किसी धर्म विशेष या दर्शन विशेष की मात्र मानसिक उपज या किसी व्यक्ति विशेष का वैचारिक विकल्प मात्र नहीं है। बल्कि यह सम्पूर्ण भौतिक एवं जैविक जगत की अनादि-अनन्त स्व-संचालित सृष्टि का स्वरूप है, ऑटोमैटिक विश्व व्यवस्था है।

इस जगत में जितने चेतन व अचेतन पदार्थ हैं, जीव-अजीव द्रव्य हैं; वे सब पूर्ण स्वतंत्र हैं, स्वावलम्बी है। उनका एक-एक समय का परिणमन भी पूर्ण स्वाधीन है।

-- -- --

संयोगों पर से संपूर्णतया ज्ञानोपयोग को हटाकर पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से विकेंद्रित ज्ञानोपयोग को आत्मा में केन्द्रित करने की, उपयोग को आत्मसन्मुख करने की अंतर्मुखी प्रक्रिया ही ध्यान है। इसमें एक शुद्धात्मा

के आलम्बन के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं चाहिए। यहाँ तक कि मन-वचन-काय भी, जो कि आत्मा के एकक्षेत्रावगाही हैं, उन तीनों योगों से भी काम लेना बन्द करके जब आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, उसे अध्यात्म में आत्मध्यान या निश्चय धर्मध्यान संज्ञा प्राप्त है।

-- -- --

तत्त्वज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो शान्ति से जी ही सकता है और न समाधि पूर्वक देह ही त्याग सकता है। अतः हमें शान्ति से जीने और समता भाव से मरने के लिए आत्मज्ञान प्राप्त करना होगा।

एतदर्थ मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है।

-- -- --

ध्यान दें! भाग्य से अधिक और समय से पहले, किसी को कभी कुछ नहीं मिलता और न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, न भले-बुरे के कर्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुःख दे सकता है और न हमारा भला-बुरा कर सकता है। अतः किसी वस्तु को पाने की आकुलता न करें और किसी से राग-द्वेष न करें।

-- -- --

राजा सेवक पर कितना भी प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे। फिर भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते।

-- -- --

अधिकांश व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराकर, जीवन से निराश होकर जल्दी ही भगवान को प्यारे हो जाना चाहते हैं, दुःखद वातावरण से छुटकारा पाने के लिए समय से पहले ही मर जाना चाहते हैं। सौभाग्य से यदि अनुकूलतायें मिल गईं तो आयु से भी अधिक जीने की निष्फल कामना करते-करते अति संक्लेशभाव से मरकर कुगति के

पात्र बनते हैं।

लोग दोनों ही परिस्थितियों में जीवन भर जगत के जीवों के साथ और अपने-आपके साथ संघर्ष करते-करते ही मर जाते हैं। वे राग-द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाते, कषाय-चक्र से बाहर नहीं निकल पाते।

-- -- --

इनकी वर्तमान क्षयोपशमज्ञान पर्याय में समझ की ऐसी ही योग्यता है, सहनशीलता की इतनी ही शक्ति है, इनकी कषाय परिणति की ऐसी ही विचित्र योग्यता है। इसकारण खोटी प्रवृत्ति करने के लिये ये बेचारे विवश हैं; क्योंकि इनके औदयिक व क्षायोपशमिक भाव ही इस जाति के हैं। अतः इस समय ये बेचारे न कुछ सीख सकते हैं, न कुछ समझ ही सकते हैं और न इनके वर्तमान विभावस्वभाव में किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना ही है; तो फिर हम इन पर दया करने के बजाय क्रोध क्यों करें? सचमुच ये तो दया के पात्र हैं। हम इनसे क्यों उलझते हैं? यदि हम भी इन्हीं की भाँति उलझते हैं तो फिर हमारे स्वाध्याय का लाभ ही क्या?

कदाचित् कषायांश वश उलझ भी जायें तो यथाशीघ्र-सुलझने की ओर प्रयासरत हो जाना चाहिए। वस्तुतः यही सुखी जीवन का रहस्य है।

-- -- --

पर्याय की पामरता के नाश का उपाय पर्याय की पामरता का चिन्तन नहीं, स्वभाव के सामर्थ्य का श्रद्धान है, ज्ञान है। स्व-स्वभाव के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान का नाम ही धर्म है।

-- -- --

अरे भाई! तुझे आत्मा के दर्शन करना तो आता नहीं और आत्मा के स्वरूप को देखने-जानने के हेतु दर्पण के समान जो जिनेन्द्रदेव हैं, उनके दर्शन तू करता नहीं तो तुझे आत्मदर्शन कैसे होगा? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक आहारदान दिया जाता है; वह घर धन्य है।

-- -- --

धर्म तो आत्मा में प्रकट होता है, तिथि में नहीं; किन्तु जिस तिथि में

अध्यात्म रत्नाकर पण्डितश्री रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रति मुनिराजों के आशीर्वचन

बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद

● राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज

धर्मानुरागी विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल वर्तमान जैनसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों में से एक हैं। वर्तमान में वे जिसप्रकार एक दीपक से हजारों दीपक जलते हैं, एक बीजान्न से अनेक बीजान्न उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अनेक विद्वानों को तैयार कर जिनवाणी की महान सेवा कर रहे हैं।

पण्डितजी एक सिद्धहस्त एवं आगमनिष्ठ लेखक भी हैं। उनका ज्ञान अत्यन्त प्रमाणिक है, जो उनकी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्त हो रहा है, चाहे वह 'जिनपूजन रहस्य' हो, चाहे 'णमोकार महामंत्र'। मुझे उनकी किसी भी कृति में एक अक्षर भी आगमविरुद्ध लिखा नहीं मिला।

उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के इस अवसर पर मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है, वे स्वस्थ एवं दीर्घायु होकर विद्वानों को तैयार करते रहें और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करके साहित्य सेवा भी करते रहें। □

अत्यन्त सरल स्वभावी विद्वान

● आचार्यश्री धर्मभूषणजी महाराज

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल अत्यन्त सरलस्वभावी व जिनागम के ज्ञाता विद्वान हैं। उन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनेकों जैनधर्म की सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों की रचना की है। अभी उन्होंने शलाकापुरुष एवं हरिवंशकथा जैसी प्रथमानुयोग की अनुपम पुस्तकों का भी सुन्दर लेखन किया है। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल जैन समाज में इसीप्रकार जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते रहें - हमारा यही मंगल शुभ आशीर्वाद है। □

कोटिशः शुभाशीष

● आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल समाज के सुयोग्य विद्वान हैं और अच्छे तत्त्वप्रचारक हैं। समाज ने इनका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है, जो प्रशंसनीय है। समाज इसीप्रकार सरस्वती पुत्रों का सम्मान करती रहे, जिससे विद्वानों के द्वारा जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हो सके। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति को कोटिशः शुभाशीष सद्धर्मवृद्धिरस्तु। □

मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है

● अध्यात्मयोगी वयोवृद्ध मुनिराज श्री निर्वाणसागरजी महाराज

मैंने पण्डितजी के व्याख्यान अनेक बार सुने, ललितपुर के विधान में, विदिशा के पंचकल्याणक में, अशोकनगर के पंचकल्याणक में मैं था, पण्डितजी वहाँ आये थे। थूबोनजी में भी पण्डितजी आये थे। उनके प्रवचन बहुत सरल और व्यावहारिक होते हैं। मैंने उनके द्वारा अनुवाद किए समयसार के प्रवचन भी पढ़े, कहीं भी कोई आगमविरुद्ध बात नहीं है। उनका साहित्य निर्विवाद और अत्यन्त सरल होते हुए भी आध्यात्मिक है। जिनपूजन रहस्य, णमोकार महामंत्र, विदाई की बेला, सामान्य श्रावकाचार, संस्कार - ये सभी पुस्तकें नवयुवकों के लिए बहुत उपयोगी हैं। प्रथमानुयोग में भी उन्होंने हरिवंश कथा, शलाकापुरुष जैसे ग्रन्थ लिखकर बहुत अच्छा काम किया है। मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है।

धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद

● मुनिश्री विशदसागरजी महाराज

पण्डितप्रवर श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने अपना जीवन सम्यग्ज्ञान की साधना और आराधना में समर्पित किया। भारिल्लजी अध्यात्म योग के साथ समाज को सही दिशा देने के लिए प्रयत्नशील रहकर लेखन कार्य करते हैं। अनेक पुस्तकों को प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचाने के लिए तथा श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के माध्यम से छात्रों को जैन सिद्धान्त का ज्ञान कराने के लिए सदैव तत्पर रहनेवाले धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद। □

जिनवाणी के आराध्य

● अनगर ऊर्जयन्तसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल हम सभी के बीच ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिसका जीवन जिनवाणी का आराधन करते हुए अपनी प्रज्ञा द्वारा

नव साहित्य सृजन एवं सुयोग्य विद्वानों के निर्माण में व्यतीत हो रहा है। हमारे जयपुर प्रवास में आयोजित विभिन्न धार्मिक समारोह गोष्ठियों आदि में आपने अपने तत्त्वज्ञान से समाज को काफी लाभान्वित किया है।

आपके द्वारा रचित प्रथमानुयोग के शलाका पुरुष भाग एक व दो तथा हरिवंश कथा आपकी लेखनी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सहज, सरल व गम्भीर व्यक्तित्व के धनी पण्डितजी का साहित्य और जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में जो योगदान है, वह अनुपमेय है। पण्डितजी साहब दीर्घजीवी होकर जिनवाणी की इसीप्रकार निरन्तर सेवा करते रहें। यह मेरा मंगल आशीर्वाद है। □

स्मरणीय सेवा

● पण्डिताचार्य भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी, जैनमठ, मूड़बिद्री

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल इतनी सादगी से रहते हैं कि प्रथमदृष्टया मिलने पर कोई उनके विशाल व्यक्तित्व का अंदाज भी नहीं लगा पाता और जब उसे उनका परिचय मिलता है तो उनकी सरलता को देखकर मिलनेवाले आश्चर्य चकित हो जाते हैं। पण्डितजी ने सरल लोकभाषा में धर्म के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके अत्यन्त उपकार किया है। उनकी किताबों के कन्नड़ अनुवाद से कन्नड़ की जनता भी उनका उपकार मानती है।

आपने धार्मिक उत्थान के साथ सामाजिक समस्याओं के लिए भी अपनी पुस्तकों में अनेक व्यावहारिक समाधान सुझाकर समाजोत्थान के लिए भी आश्चर्यपूर्ण काम किया है। आपकी सेवाओं को सदैव याद किया जायेगा। □

रतनचन्द से त्रैलोक्यनाथ बनें

● स्वस्ति श्री भट्टारक चिन्तामणि धवलकीर्ति स्वामीजी, अर्हत्सुगिरि

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल तो चन्द से भी शीतल, सरल एवं कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उनकी जैन साहित्य की मौलिक कृतियाँ हर एक मानव की मानवता का उत्थान करनेवाली हैं। उनके लेखन एवं बोलने की शैली भी अर्थ गम्भीरता को सूचित करती है। उन्होंने दक्षिण से लेकर उत्तर तक समस्त भारतभूमि की जनता का उत्थान किया है और अभी भी कर रहे हैं। वे साहित्य के माध्यम से विदेशों में भी पहुँच गये हैं। कुछ लोग जयपुर में बैठकर पत्थर में भगवान का रूप दे रहे हैं तो हमारे रतनचन्दजी जयपुर में बैठकर इन्सान को साक्षात् भगवान बनाने की कला सिखा रहे हैं। वास्तव में उनका जीवन धन्य है। □